सुखी होने का उपाय

भाग – 7

नेमीचन्द पाटनी

सुखी होने का उपाय

भाग – ७

(प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश)

लेखक :
नेमीचन्द पाटनी

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए–४, बापूनगर, जयपुर – ३०२ ०१५
फोन : (०१४१) - ५१५५८१, ५१५४५८
फैक्स : ५१७९७७ तार : त्रिमूर्ति

प्रथम संस्करण : 3000
(2 अक्टूबर, 1998)

मूल्य : **दस रुपए**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए–4, बापूनगर, जयपुर 302015
फोन : 515581, 515458

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिन्टर्स
जामा मस्जिद
दिल्ली

सुखी होने का उपाय
भाग-७
विषय सूची

विषय	पृष्ठ
विषय सूची	3
दो शब्द	5
अपनी बात	6

प्रायोग्यलब्धि

सविकल्प से निर्विकल्प होने की विधि	11

एकत्वबुद्धि तोड़ने के उपाय

छहद्रव्यों और नवतत्त्वों की ओर से वृत्ति को समेटना	19
ज्ञेयों में वृत्ति समेटकर ध्रुव के सन्मुख करना	21
दोनों कथनों का सारांश	25
अनेकताओं में भी वृत्ति समेटकर ध्रुव के सन्मुख करना	30
उपेक्षाबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी ?	32
ज्ञेयाकारों से उपेक्षावृत्ति कैसे हो ?	39
विकल्पों एवं विचारों का अन्तर	42

अनन्तगुणों की अभेदता

अनन्तगुणों का कार्य अभेद कैसे प्रगट होगा ?	45
अनन्तगुणों की अभेदता किसप्रकार ?	52
अनन्तगुणों को भेदरूप चर्चा क्यों की गई ?	55
ज्ञेयों का ज्ञान भी ज्ञानपर्याय ही है	57
रुचि के पृष्ठबल से ही आत्मानुभूति	61

अनेकान्त स्वभाव और सर्वज्ञता

स्व-पर-प्रकाशकता एवं अनेकान्त स्वभाव	65
नास्ति के ज्ञान से सर्वज्ञता कैसे सिद्ध होगी ?	69
सिद्धस्वरूपी ध्रुवतत्त्व ही मैं हूँ	72
ध्रुव के आश्रय पूर्वक की पर्याय का सामर्थ्य	83
स्व में एकत्व करने के लिये मुख्यगौण व्यवस्था आवश्यक	84

भेदविज्ञान

ध्रुव के आश्रय से स्व ज्ञेय को खोजना	85

भेदविज्ञान के प्रकार 86
स्थूल असद्भूत उपचार के विषयों से भेदज्ञान 88
असमान जातीय दव्य पर्याय से भेदज्ञान 91
असद्भूत अनुपचरित व्यवहार के विषयों से भेदविज्ञान 92
सद्भूत उपचरित व्यवहार के विषयों से भेदविज्ञान 96
सद्भूत अनुपचरित व्यवहार के विषय से भेदज्ञान 101

भेदज्ञान का फल

अभेदता कहाँ व कैसे हो जाती है ? 104
छद्मस्थ भी निर्विकल्प दशा में सिद्ध समान कैसे ? 111
छद्मस्थ के और सिद्ध के ज्ञान में अंतर क्यों व क्या ? 112
ध्रुव के सामर्थ्य का विश्वास कैसे हो ? 114
सम्यक्श्रुतज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य 118
रुचिका विषय और सामर्थ्य 120
ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की अभेदता 123
स्वज्ञेय-परज्ञेय के जानने की प्रक्रिया 126
ज्ञाता और ज्ञान की अभेदता 129
ज्ञान में अभेद आत्मस्वरूप आने पर अतीन्द्रिय आनन्द कैसे हो ? 137

यथार्थ निर्णय

मिथ्याज्ञान का निर्णय आत्मानुभव में कार्यकारी कैसे ? 139
यथार्थ निर्णय का आत्मानुभव में योगदान 142

आत्मानुभव में योगदान

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि का आत्मानुभव में योगदान 148
चारित्र-सुख-वीर्यादि का आत्मानुभव में योगदान 151
अनंतगुणों के अभेद परिणमन से लाभ 154
अभेदपर्याय भी श्रद्धा करने योग्य क्यों नहीं ? 158
ध्रुव, श्रद्धा का विषय कैसे बनेगा ? 161
सत् अभेद ही है तो ज्ञान भेद कैसे करेगा ? 163
मिथ्याज्ञान के नयों के निर्णय की यथार्थता कैसे मानी जावे ? 168
द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय से निश्चय-व्यवहार नयों का सामञ्जस्य 170
उपरोक्त सामञ्जस्य से लाभ किसप्रकार ? 171
प्रायोग्यलब्धि के परिणामों का उपसंहार 175
समापन 182

दो शब्द

आदरणीय नेमीचन्दजी पाटनी द्वारा लिखित ''सुखी होने का उपाय'' भाग-7 आपके हाथों में है। इसके पूर्व सन् 1990 में भाग-1, 1991 में भाग-2, 1992 में भाग-3 , 1994 में भाग-4 तथा 1997 में भाग-5 व भाग-6 प्रकाशित किये गये थे। भाग-1 में वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था, भाग-2 में आत्मा की अन्तरदशा एवं भेदविज्ञान, भाग-3 में आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है, भाग-4 में यथार्थ निर्णय पूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण, भाग 5 में यथार्थ निर्णय पूर्वक ज्ञातृतत्त्व की पर्याय मात्र से भेद विज्ञान एवं देशनालब्धि का अन्तिम चरण तथा भाग–6 में देशनालब्धि का अन्तिम चरण एवं प्रायोग्यलब्धि का प्रारम्भ विषय पर चर्चा की गई है।

यह तो सर्व विदित ही है कि पाटनीजी ने आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का समागम पूरी श्रद्धा और लगन के साथ लगातार 40 वर्ष तक किया है। वे भाषा के पण्डित भले ही न हों, पर जैन तत्त्वज्ञान का मूल रहस्य उनकी पकड़ में पूरी तरह है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के काम में वे विगत पैंतीस वर्षों से नींव का पत्थर बनकर लगे हुए हैं। विगत 30-35 वर्षों से मेरा भी उनसे प्रतिदिन का घनिष्ठ सम्पर्क है; अतः उनकी अन्तर्भावना को मैं भली भाँति पहचानता हूँ ।

अभिनन्दन पत्र भी न लेने की प्रतिज्ञाबद्ध श्री पाटनीजी ने यह कृति लेखक बनने की भावना से नहीं लिखी है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धि के लिए ही उनका यह प्रयास है; उनके इस प्रयास से समाज को सहज ही सम्यक् दिशाबोधक यह कृति प्राप्त हो गई है।

छह भाग तो आपके समक्ष पहुँच ही चुके हैं, अब यह सातवां भाग भी आपके हाथों में है। इनके और भी भाग तैयार होंगे, वे भी आपको शीघ्र ही प्राप्त होंगे। उनके भाव आप सब तक उनकी ही भाषा में हूबहू पहुँचें – इस भावना से इनमें कुछ भी परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। अतः विद्वज्जन भाषा पर न जावें, अपितु उनके गहरे अनुभव का लाभ उठावें। इसी अनुरोध के साथ –

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक "सुखी होने का उपाय" भाग - 7 है। इसके पूर्व प्रथम भाग सन् 1990 में, द्वितीय भाग सन् 1991 में, तृतीय भाग सन् 1992 में, चतुर्थ भाग सन् 1994 में तथा पाँचवां व छठवां भाग 1997 में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक लिखना प्रारम्भ करते समय ऐसा संकल्प था कि आत्मानुभूति तक का सम्पूर्ण विषय तीन भागों में पूर्ण हो जावे; लेकिन लेखन प्रारम्भ करने के पश्चात् जैसे-जैसे विषय की गम्भीरता अनुभव में आती गई, उसीप्रकार उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता अनुभव हुई, अतः विषय बढ़ता ही गया। चतुर्थ भाग समाप्त करते समय तो ऐसा लगा कि आत्मानुभूति का विषय तो अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत गम्भीर एवं सूक्ष्म भी है, इसलिए इस विषय को मर्यादित नहीं किया जा सकता। इसलिये इस पर गम्भीर चिन्तनपूर्वक विस्तृत स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अतः सम्पूर्ण विषय को भागों की मर्यादा में बाधकर रखना संभव नहीं है; अतः मैने वह आग्रह छोड़ दिया; क्योंकि जो अत्यन्त आवश्यक महत्वपूर्ण विषय है और जिस पर चिन्तन मेरे स्वयं के लिये बहुत प्रयोजनभूत है, वही रह जाता; जो कि मुझे इष्ट नहीं था। अतः अब मैंने संकल्प कर लिया है कि विषय को संकुचित नहीं करके विषय की विस्तार से चर्चा की जावे, ताकि विषय स्पष्ट हो सके और भागों की संख्या का भी विकल्प छोड़कर जैसे-जैसे प्रकरण तैयार होता जावे उसे अगले भाग में प्रकाशित कर दिया जावे। लेकिन निर्विकल्प दशा प्राप्त करने योग्य सविकल्प आत्मानुभूति का विषय भाग - 6 में भी पूर्ण नहीं हो सका। अतः इस सातवें भाग में निर्विकल्प दशा में पहुंचने के पूर्व देशनालब्धि के चरमनिर्णय के पश्चात् भी प्रायोग्यलब्धि के परिणामों की पूर्ति होकर करणलब्धि पार होने पर ही निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्त हो सकती है। इसके अंतर्गत ही यह सातवां भाग प्रस्तुत है।

मैंने उक्त सभी रचनाएं मात्र स्वयं के कल्याण के लिए अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से की है। किसी भी विषय पर कुछ भी लिखने की जिम्मेदारी के आधार पर जितनी गूढ़तापूर्वक चिन्तन होता है, उतना अन्य माध्यमों से नहीं हो पाता है तथा विषय समझ में आ

जाने पर भी उसको संकुचित करके अस्पष्ट छोड़ देने के लिए मेरी आत्मा सहमत नहीं थी। साथ ही जितना भी विस्तार होगा, मेरा उपयोग भी उतने काल तक जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों के चिन्तन-मनन में ही लगा रहेगा और यह मेरे जीवन की महान उपलब्धि होगी, इसलिए मैंने विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण करने का संकल्प कर लिया है। अतः यह विषय आगामी कितने भागों में पूर्ण होगा, यह निर्णय अभी नहीं हो सकता।

उपरोक्त सभी रचनाओं में पुनरावृत्ति बहुत हुई है, क्योंकि ये रचनाएँ अलग-अलग समयों पर जब भी उपयोग खाली हुआ टुकड़ों-टुकड़ों में की गईं हैं, लगातार नहीं। मुझे भाषा एवं व्याकरण का ज्ञान अधिक नहीं होने से वाक्य-विन्यास तथा वाक्यों का जोड़-तोड़ भी सही नहीं है। अतः पाठकगणों को उपरोक्त सभी पुस्तकों में इसप्रकार की कमी अनुभव में आयेगी, सम्भव है पढ़ने में रुचिकर भी नहीं लगे, इसके लिए पाठकगण क्षमा करें। कृपया इन कमियों को गौण करके विषय के भाव को ग्रहण करने की चेष्टा करें – यही मेरी नम्र प्रार्थना है। अध्यात्म के कथन तो भावना दृढ़ करने के लिए होते हैं, अतः उसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं मानना चाहिए।

इस ही पुस्तक के पाँचवें भाग के विषय प्रवेश में चारों भागों के विषयों का संक्षेप में ज्ञान कराते हुए पाँचवे भाग का भी संक्षिप्त सार भाग 6 में दिया गया है। भाग 6 के विषय का भी संक्षिप्त परिचय भाग 6 के समापन में आ गया है। पाठकगण वहाँ से जान लें। प्रस्तुत भाग 7 का विषय है **प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश**। प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश, देशनालब्धि के चरमनिर्णय की यथार्थता मात्र ही नहीं है; वरन् उक्त निर्णय को रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता का पृष्ट बल ही मुख्य रूप से कार्य करता है। ज्ञान के द्वारा भले प्रकार से समझकर, चिंतन, मनन करके ऐसा निर्णय कर लिया कि अपना त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व ही अपना मानने योग्य है, क्षणिक पर्याय जो नाशवान् होने से अपना मानने योग्य नहीं हैं; लेकिन उस निर्णय को स्वीकार करने की क्षमता तो, ज्ञान में नहीं होती, वह कार्य तो श्रद्धा का ही है। अतः श्रद्धा के स्वीकार करते ही, उसमें तन्मयता–लीनता हुये बिना, निर्विकल्प आत्मानुभव नहीं होता; उसके अभाव में अतीन्द्रिय सुख प्राप्त नहीं होता। निर्णय करने में तो ज्ञान बहिर्लक्ष्यी रहकर ही निर्णय करता है और आत्मानुभव तो ज्ञान के स्वलक्ष्यी कार्य करने पर ही होता है। अतः दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।

तात्पर्य यह है कि देशनालब्धि के यथार्थ चरमनिर्णय पर भी ज्ञान परलक्ष्यी

ही रहता है; अतः वह आत्मानुभव प्राप्त नहीं करा सकता। रुचि तो श्रद्धा गुण की पर्याय है, उसके बल से ज्ञान के निर्णय की स्वीकृति होते ही ज्ञान अपने त्रिकाली ज्ञायक की ओर सन्मुख होने को अग्रसर होता है; ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशक होने से, पर्यायार्थिकनय के विषयभूत जो भी हों उनको श्रद्धा ने पर के रूप में माना है, अतः उनकी ओर से अपनी वृत्ति को समेटकर, आत्म सन्मुख कर, लीनता करने के सन्मुख होने का कार्य परिणति की विशुद्धता है। इसप्रकार से रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता तो एक मात्र स्वलक्ष्यी ज्ञान से ही होना संभव है। फलतः ज्ञान के निर्णय को रुचि की उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता के पृष्टबल प्राप्त हुये बिना, प्रयोजन की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

निष्कर्ष यह है कि देशनालब्धि द्वारा यथार्थ चरमनिर्णय प्राप्त हो जाना तो देशनालब्धि है; ऐसे निर्णय को रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता का पृष्टबल प्राप्त होकर, तीनों की एकता का कार्यशील हो जाना ही प्रायोग्यलब्धि है। इस विषय को विशेष स्पष्टीकरण पूर्वक विवेचन करने का प्रयास इस सातवें भाग में किया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणियों को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त कराने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादिकाल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था। यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिए दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सभी अपने चिन्तन को ही सच्चा मार्ग कहते थे; लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शान्ति प्राप्त करने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न जाने कहाँ-कहाँ भटकते हुये सन् 1943 में मुझे प्रातः स्मरणीय महान उपकारी गुरुदेव पूज्यश्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हो गया; कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी पूर्ण निशंकता प्राप्त नहीं हुई, तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सभी तरह से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा की शान्ति प्राप्त करने का यदि कोई मार्ग हो सकता है तो एक यही मार्ग हो सकता है, अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता – ऐसे विश्वास के साथ पूर्ण समर्पणता पूर्वक उनके सत्समागम का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा। फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ, उस सबका-श्रेय अकेले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को ही है।

वे तो सद्ज्ञान के भण्डार थे, आत्मानुभवी महापुरुष थे। उनकी वाणी का

एक-एक शब्द गहन, गम्भीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था, उसमें अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो, तो वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है और जो कुछ भी यथार्थ है, वह सब पूज्य स्वामीजी की ही देन है। उनकी उपस्थिति में एवं स्वर्गवास के पश्चात् भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता रहा हूँ, उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था, उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिए दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा ही प्राप्त हुई है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिए हम तो बिल्कुल अन्धे थे। अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है, जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या अनेक भवों में भी नहीं भूला सकेगा तथा मेरी धर्ममाता पू॰ श्री चम्पा बहिन एवं श्री शांता बहिन का भी उपकार नहीं भूल सकता। जब-जब किसी विषय के स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती, उनके मार्गदर्शन से मेरा मार्ग सरल हो जाता था। अतः उनका भी असीम उपकार रहा।

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ, उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह अन्तिम प्रयास है। मेरी उम्र 85 वर्ष की है और इस कृति का जो भाग शेष है वह भी मेरे जीवनकाल में सम्पूर्ण तैयार हो और प्रकाशित होकर आत्मार्थी बन्धुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मार्ग सुगमता से प्राप्त करावे – यही भावना है।

प्रस्तुत पुस्तक आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बने तथा मेरा उपयोग जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जिनवाणी की शरण में ही बना रहे एवं उपर्युक्त यथार्थ मार्ग मेरे आत्मा में सदा जयवंत रहे – इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

–नेमीचन्द पाटनी

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्रीमती भँवरीदेवी ध॰ प॰ श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकर	501=00
2. श्री अरुणजी जैन, भिवानी	501=00
3. श्री प्रकाशचंदजी सेठी, भिवानी	501=00
4. श्रीमती मायादेवी विमलचंदजी ज्ञानचंदजी, भिवानी	501=00
5. श्री महेन्द्रकुमारजी जैन, भिवानी	500=00
6. श्रीमती रामस्वरूपीदेवी ध॰ प॰ धन्नालालजी जैन, ग्वालियर	251=00
7. श्रीमती नलिनी प्रफुलभाई दोशी, मुम्बई	251=00
8. श्रीमती कान्ताबाई ध॰ प॰ श्री पूनमचंदजी छाबड़ा, इन्दौर	251=00
9. श्री जे॰ डी॰ जैन, धामपुर	251=00
10. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	251=00
11. ब्र॰ श्री हीरालालजी खुशालचंदजी दोशी, माण्ड़वे	251=00
12. श्री जीवनमलजी जेठमलजी अजमेरा, भीलवाड़ा	251=00
13. डॉ॰ सत्यदेवी जैन, भिण्ड	201=00
14. श्री अभयकुमारजी जैन, भिवानी	201=00
15. श्री ओ॰ पी॰ जैन, भिवानी	201=00
16. श्री अरुणजी जैन, भिवानी	201=00
17. श्री ए॰ के॰ जैन, भिवानी	201=00
18. श्री माणकचंदजी पाटनी, भिवानी	101=00
19. श्रीमती पानादेवी ध॰ प॰ श्री मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101=00
20. श्रीमती गुलाबीदेवी ध॰ प॰ श्री लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर	101=00
21. श्री सुभाषचंदजी सर्राफ, भिण्ड	101=00
22. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भिण्ड	101=00
23. श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन, भिण्ड	101=00
24. श्री बंगाली बाबू, भिण्ड	101=00
25. श्री कपूरचंदजी जैन, भिवानी	101=00
कुल योग	6123=00

सुखी होने का उपाय

भाग – 7

प्रायोग्य लब्धि

सविकल्प से निर्विकल्प होने की विधि

धर्म का फल तो मोक्ष की प्राप्ति अर्थात् भगवानसिद्ध बनना है। सिद्ध बनने का मार्ग ही मोक्षमार्ग है। धर्म का मूल अर्थात् मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है, यथा 'दंसण मूलो धम्मो'। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आत्मानुभव से होती है। आत्मानुभव उपयोग स्वलक्ष्य होने पर ही होता है। जिसके प्रति आकर्षण होता है, उपयोग उसकी ओर ही लक्षित होता है। जिसमें अपनापन होता है, आकर्षण तो सहज रूप से उसकी ओर ही होता है। अतः आत्मा में अपनापन आने से आत्मा की ओर आकर्षण हुये बिना रहता नहीं और जिसका आकर्षण अर्थात् रुचि आत्मा की ओर हो जावेगी तो आत्मानुभव भी हुये बिना रह ही नहीं सकता।

सारांश यह है कि अपने आत्मा अर्थात् सिद्धस्वभावीध्रुवतत्व में अपनापन आकर, समस्त पर ज्ञेयों में परपना आने पर ही, मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म का प्रारंभ होता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' बताया है। उस मोक्षमार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन आत्मानुभव से होता है और आत्मानुभव स्व-पर के भेद-ज्ञान द्वारा, स्व को स्व जानकर, उसमें अपनापन और पर को पर समझकर, उनमें परपने की श्रद्धा द्वारा ही होता है। इसलिये स्व एवं पर का यथार्थ स्वरूप समझ में आकर

निर्णय हुये बिना स्व में स्वपने की श्रद्धा होना संभव नहीं होगा।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिये स्व एवं पर का यथार्थ स्वरूप समझने की सर्वोपरि आवश्यक्ता है। स्व एवं पर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, जिनवाणी के अध्ययन अथवा गुरु उपदेश तथा सत्समागम से प्राप्त होता है। उक्त कथनों को चिंतन, मनन, विचार करके युक्तियों द्वारा समझा जाता है। समझने पर उसका निष्कर्ष प्राप्त होता है, तब निर्णय होकर कथन का भाव भासन होता है। ऐसे निर्णय करने की पद्धति मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ 258 पर निम्न प्रकार बताई है। :-

"वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं – जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना। तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये। सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जेसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा; सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ? जो प्रबलभासित हो उसे सत्य जाने। तथा यदि उपदेश में अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो; तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसीप्रकार जबतक निर्धार न हो तबतक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समानबुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे; तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। **इसीप्रकार जब तक अपने अंतरंग में – जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर – भाव भासित न हो तब तक इसीप्रकार उद्यम करे।"**

सर्वप्रथम अज्ञानी को कोई भी कारण पाकर, सुखी होने की

रुचि पैदा होती है। संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिये धर्म करना चाहता है। ऐसी रुचि कषाय की मंदता होने पर ही होती है, तब वह अपने ज्ञान के क्षयोपशम अर्थात् समझने की शक्ति को लौकिक कार्यों से बचाकर सुखी होने का मार्ग समझने में लगाता है। इन दोनों कार्यों के संयोग तो पूर्वकृत पुण्य के उदय के फल में प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन सुखी होने का उपाय खोजने की रुचि तो आत्मा का वर्तमान पुरुषार्थ है। अपने ज्ञान के क्षयोपशम को लौकिक कार्यों से बचाकर, रुचि के साथ मार्ग समझने की ओर लगाने का प्रयास, वह भी आत्मा का वर्तमान का पुरुषार्थ है। पुस्तकमाला के पूर्व भागों में रुचि सहित के इस पुरुषार्थ को, परिणति के नाम से परिचित कराया गया है, जिसको आगम में गर्भितशुद्धता के नाम से संबोधित किया गया है। आत्मा की ऐसी रुचि एवं परिणति की दशा को जिनवाणी में, क्षयोपशमलब्धि एवं विशुद्धिलब्धि के नाम से भी संबोधन किया है। इसप्रकार आत्मानंद को प्राप्त करने की रुचि एवं पर की ओर जो वृत्ति जा रही थी, उसको उधर से हटाकर, आत्मा की ओर लगाने का पुरुषार्थ ऐसी परिणति की शुद्धता, इन दोनों का अंकुरारोपण तो क्षयोपशम एवं विशुद्धिलब्धि के काल में ही हो जाता है।

उपरोक्त आत्मार्थी जब जिनवाणी के अध्ययन, गुरु उपदेश एवं सत्समागम आदि के द्वारा, सुखी होने के यथार्थ मार्ग को ग्रहण करता है तो, मार्ग की सत्यता जैसे-जैसे उसके निर्णय में आती जाती है; रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता क्रमशः बढ़ती जाती है। जिनका अंकुरारोपण, पूर्व की लब्धियों में हुआ था। उन्ही का सिंचन होता रहता है जो कि बढ़ते-बढ़ते पूरे वृक्ष का रूप धारण करेगा।

इसप्रकार पूर्व में बताई गई पद्धति के अनुसार आत्मार्थी को जैसे-जैसे मार्ग स्पष्ट होकर समझ में आता जाता है एवं निर्णय होता

जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी रुचि में उग्रता एवं परिणति की विशुद्धता बढ़ती जाती है। इसप्रकार रुचि एवं परिणति तो यथार्थ निर्णय के द्वारा प्रोत्साहित होकर क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती रहती है और यथार्थ निर्णय प्राप्त करने के पुरुषार्थ को क्रमशः रुचि एवं परिणति का प्रोत्साहन मिलता रहता है। फलस्वरूप क्रमशः दोनों वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि की इसीप्रकार की प्रक्रिया को समयसार के कलश 136 में ज्ञान वैराग्य की मैत्री कहा गया है अर्थात् दोनों एक साथ होते हैं। ज्ञान अर्थात् स्व आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान तथा वैराग्य अर्थात् परज्ञेयों से उपयोग सिमटकर स्व में एकाग्र होना; ये दोनों क्रियायें एक साथ होती हैं। इसी को मैत्री कहा है। यह समस्त प्रक्रिया ही देशनालब्धि ही है। देशनालब्धि में तो आत्मा का एकमात्र वर्तमान पुरुषार्थ ही कार्य करता है, पूर्व कर्म का उदय अथवा काललब्धि अथवा क्रमबद्धपर्याय आदि की अनुकूलता के कथन तो व्यवहार हैं। वे सब कथन तो आत्मा की वर्तमान दशा के निमित्त की प्रधानता से मात्र ज्ञान कराने के लिए किये गए कथन हैं। अज्ञानी को ज्ञानी बनने के लिए, यथार्थ मार्ग प्राप्त हो जाना ही सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उपरोक्त देशनालब्धि के काल में तो रुचि एवं परिणति के साथ सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य होता है। आत्मानुभव प्राप्त करने की रुचि अवश्य होती है लेकिन आत्मानुभव करने का प्रायोगिक पुरुषार्थ गौण रूप से वर्तता रहता है। प्रायोग्यलब्धि में, रुचि एवं परिणति का पुरुषार्थ मुख्य हो जाता है और देशना संबंधी समझने का कार्य गौण हो जाता है। संक्षेप में समझा जाये तो प्रायोग्यलब्धि तो सैद्धांतिकज्ञान अर्थात् देशनालब्धि का फल है। देशना के द्वारा यथार्थ मार्ग समझकर, निर्णय कर लेने पर उसका कार्य तो समाप्त हो गया। देशना की मर्यादा तो वहां समाप्त हो जाती

है। इसप्रकार मार्ग समझ में आकर निर्णय भी कर लिया लेकिन उस मार्ग पर गमन करे बिना,गन्तव्य स्थान पर तो नहीं पहुँचा जा सकता? जैसे कोई व्यक्ति मार्ग भूल गया हो तो सर्वप्रथम वह यथार्थ मार्ग समझकर पक्का निर्णय कर लेगा लेकिन गंतव्य स्थान पर पहुंचने के लिए तो उस मार्ग पर चलेगा तब ही वह अपने गंतव्य को प्राप्त कर सकेगा। इसीप्रकार देशना की मर्यादा तो मार्ग का निर्धारण करने तक ही रहती है, गंतव्य प्राप्त करा देने का कार्य देशना का नहीं है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि देशना के द्वारा प्राप्त सैद्धांतिक ज्ञान के द्वारा किए गए निर्णय को कार्यान्वित करने अर्थात् प्रायोगिक पुरुषार्थ का नाम ही प्रायोग्यलब्धि है। देशनालब्धि में वर्तने वाले पुरुषार्थ एवं प्रायोग्यलब्धि में वर्तने वाले पुरुषार्थ में, पूर्व-पश्चिम जैसा अंतर है अर्थात् दोनों के पुरुषार्थ की दिशा ही एक दूसरे से विरुद्ध है। यहां पुरुषार्थ का अर्थ जैसा लौकिकजन मानते हैं वैसा नहीं समझना; लौकिकजन तो कुछ करने को ही पुरुषार्थ मानते हैं। लेकिन यहाँ तो पुरुष (आत्मा) का अर्थ अर्थात् प्रयोजन वह पुरुषार्थ है। आत्मा का प्रयोजन तो सिद्धभगवान बनना है; सिद्धभगवान तो अकर्ता स्वभावी हैं। इसलिये पर में करने का पुरूषार्थ तो मिथ्या अभिप्राय है। इसलिए सिद्धभगवान बनने की पूर्ति करने के लिए आत्मा के वीर्य अर्थात् वृत्तियों का उत्थान वह वास्तविक पुरुषार्थ है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के समस्त गुण स्वलक्ष्यी होकर परिणमन करते हुए स्व के साथ तन्मय होकर परिणमने लगें वह यथार्थ पुरुषार्थ है और उसी अंतरदशा को प्रायोग्यलब्धि कहा जाता है।

देशनालब्धि के काल में समझने की मुख्यता रहती है अर्थात् उसमें तो ज्ञान का क्षयोपशम परलक्ष्यी रहकर ही कार्य करता रहता है। परलक्ष्यी ज्ञान तो मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्रवर्तता है।

इन्द्रिय ज्ञान में तो ज्ञेयों का परिवर्तन होते रहना अवश्यंभावी होने से विकल्पात्मक प्रवर्तता है। अतः यहां तक तो ज्ञान सविकल्प रहता है। परलक्ष्यी विकल्पात्मक ज्ञान से आत्मानुभव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि देशनालब्धि के पुरुषार्थ से आत्मानुभव होना असंभव है। लेकिन साथ ही वर्तने वाली रुचि आत्मलक्ष्यी वर्तने से एवं परिणति भी पर की ओर से सिमटकर, आत्मलक्ष्यी वर्तने के बल से आत्मा के अनंतगुण भी आत्मा के साथ सम्मिलन कर तन्मय होने के लिए तत्पर प्रवर्तते हैं। लेकिन उनका सामर्थ्य इतना बलिष्ठ अभी नहीं हुआ कि वो उपयोगात्मक ज्ञान को भी अपने अनुसार परिणमा सकें। ऐसी रुचि एवं परिणति की एवं उपयोगात्मक ज्ञान के असहयोगात्मक परिणमन की दशा ही देशनालब्धि की चरमदशा है।

प्रायोग्यलब्धि आत्मा के परिणमन की वह दशा है, जिसमें उपरोक्त दोनों के असहयोगात्मक परिणमनों की विपरीतता समाप्त होकर, क्रमशः उपयोगात्मक ज्ञान भी स्वलक्ष्यी हो जाता है। इसप्रकार दोनों का अन्तर समाप्त हो जाता है। उपयोगात्मक परलक्ष्यी सविकल्पज्ञान का अभाव होकर स्वलक्ष्यी ज्ञान उपयोगात्मक निर्विकल्प होने पर ही आत्मा का अनुभव होता है। देशनालब्धि में उपयोगात्मक ज्ञान परलक्ष्यी ही रहता है। लेकिन प्रायोग्यलब्धि में उपयोगात्मकज्ञान की परलक्ष्यता तारतम्यानुसार क्रमशः क्षीण होती जाती है और स्वलक्ष्यता बढ़ती जाती है। तथा साथ की साथ ही रुचि का आत्मा में अपनापन अर्थात् एकत्वपना तथा परिणति का पर से सिमटकर आत्मा के साथ तन्मय होने की तैयारी भी क्रमशः तारतम्यानुसार वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। प्रायोग्यलब्धि में तो अकेले रुचि एवं परिणति की वृद्धि की मुख्यता, प्रधानता, ऊर्ध्वता रहती है और समझने का कार्य करनेवाले परलक्ष्यी ज्ञान की क्रमशः हीनता, गौणता होती जाती है।

जिसप्रकार पथिक को मार्ग समझने के काल में तो मार्ग पर चलना नहीं होता तथा हो सकता भी नहीं है, मार्ग को समझना तो खडे रहकर ही समझना होगा। लेकिन समझे हुए मार्ग पर चलने के काल में समझने का कार्य समाप्त हो जाता है। और चलने का कार्य मुख्य हो जाता है। लेकिन फिर भी सही मार्ग पर गमन कर रहा है या नहीं, इसकी सावधानी रखता है कि ऐसा न हो कि जो मार्ग समझा हुआ है उससे विपरीत मार्ग ग्रहण करले, इसके लिए समझे हुए मार्ग को स्मरण में लाकर यथार्थ मार्ग पर ही चलता रहे, इसकी सावधानी वर्तने के लिए बारंबार चलने से हटाकर मार्ग की ओर उपयोग को ले जाना पड़ता है। जितना-जितना गंतव्य के समीप पहूंचता जाता है क्रमशः ऐसे विकल्प भी शमन होते जाते हैं और गंतव्य प्राप्त होने पर तो अगर उपयोग उस ओर चला जावे तो वह भी उसे भारभूत लगने लगता है। उपरोक्त दशा ही प्रायोग्यलब्धि में आत्मा की वर्तती रहती है।

देशनालब्धि में समझे हुवे मार्ग को प्रायोगिक रूप देने के लिये जब प्रयास करता है तो परलक्ष्यी उपयोग को आत्मलक्ष्यी करने का प्रयत्न वर्तता है। वह प्रयत्न मनगत विचारों के द्वारा नहीं होता, क्योंकि मनगत विचार तो स्वयं ही इन्द्रियज्ञान होने से परलक्ष्यीज्ञान है; इसका तो अभाव होकर ही स्वलक्ष्यीपने का प्रारंभ होगा।

प्रश्न :– तो आत्मार्थी पुरुषार्थ कैसे कर सकेगा ?

समाधान :– वास्तविक पुरुषार्थ तो सिद्धभगवान बनने का पुरुषार्थ है। जिसमें राग हो वह वास्तविक पुरुषार्थ कैसे हो सकेगा? समझने का फल तो ज्ञान के क्षयोपशम की वृद्धि होता है; वह देशना में प्राप्त हो गया। लेकिन अब तो वीतराग (सिद्ध भगवान) बनने का पुरुषार्थ करना है, अतः उसमें तो जिस पुरुषार्थ में वीतरागता हो

अर्थात् अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यानादि कषायों का अभावात्मक परिणाम हों; वह वास्तविक पुरुषार्थ है। वह पुरुषार्थ तो आत्मा में अपनापन होकर, ज्ञेय मात्र में परपना आकर उनकी ओर से आत्मा की वृत्ति अर्थात् परिणति सिमटकर, अपने स्वतत्व के साथ तन्मय हो, वह वास्तविक पुरुषार्थ है। ऐसा पुरुषार्थ तो ज्ञेयमात्र के प्रति अकर्तृत्व भाव रहते हुये, अपने स्वज्ञेय के प्रति आकर्षित होने से ही होता है। संक्षेप में कहो तो देशनांलब्धि तक के पुरुषार्थ में तो कर्तृत्व मुख्य दिखता था। प्रायोग्य में अकर्तृत्व का पुरुषार्थ मुख्य होता है लेकिन वह कभी अनुभव में नहीं आया। अनादि से अभी तक कर्तृत्व का पुरुषार्थ ही करता चला आ रहा है और उसका अनुभव भी है। इसलिये ऐसा लगने लगता है कि प्रायोग्यलब्धि में पुरुषार्थ ही क्या होगा? लेकिन आत्मार्थी को सिद्ध बनना है, इसलिये वीतरागता का उत्पादक पुरुषार्थ ही वास्तविक पुरुषार्थ है। क्योंकि पर में कुछ भी करना चाहे तो भी कुछ कर तो सकता ही नहीं मात्र रागादि का उत्पादन कर आकुलित होता रहता है। कर्तृत्व का पुरुषार्थ तो विपरीत पुरुषार्थ है। आत्मा अपने को पर का अकर्ता मानने से आत्मा की सर्व शक्तियाँ पर की ओर से सिमटकर, स्वतत्व में एकत्व करने के लिये प्रोत्साहित होती हैं, यही वास्तव में आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ है। आत्मा की ऐसी दशा होना ही प्रायोग्यलब्धि है। इस प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त करने की विधि का विवेचन इस पुस्तक में करने का प्रयास किया गया है। आत्मार्थी अपनी रुचि और परिणति की शुद्धता के साथ इसका अध्ययन मनोयोग से करेंगे तो यथार्थ मार्ग स्पष्ट हो सकेगा।

एकत्वबुद्धि तोड़ने के उपाय —

छहद्रव्यों और नवतत्त्वों से वृत्ति समेटना

प्रायोग्यलब्धि के पूर्व, देशनालब्धि की चरमदशा पर पहूंचने के पूर्व ही आत्मार्थी को ऐसा निर्णय तो हो ही जाता है कि छहों जाति के द्रव्य जो संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त हैं, उन सबमें चेतना का धारक तो जीवद्रव्य ही है बाकी सभी चेतनाहीन होने से जीव से भिन्न ही हैं और अनन्त जीवद्रव्यों में मेरा जीवद्रव्य, उन सभी जीवों से भिन्न मेरे रूप तो अकेला एक मैं ही हूँ । मेरे सहित समस्त द्रव्य स्वयं सत्तावान पदार्थ होने से "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत्" हैं, अतः सभी अपने-अपने गुण पर्यायों में स्वतंत्रतया परिणमते रहते हैं । उनके कार्यों में कुछ भी मैं नहीं कर सकता और मेरे कार्य में वे भी किसी प्रकार से कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करते, इसलिये वे सभी तथा उनके सभी प्रकार के परिणमन मेरे लिये मात्र उपेक्षणीय हैं । जब मैं मेरे जीवद्रव्य की ओर देखता हूँ तो वह मुझे राग-द्वेषादि अनेक प्रकार के भावों द्वारा आकुलित अशांत ही अनुभव में आता है । शांति का इच्छुक ऐसा मैं, शांति प्राप्त करने के लिये, ज्ञानी गुरु का समागम प्राप्तकर, उनसे शांति का मार्ग प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ ।

श्री गुरु के बताये मार्ग को जिनवाणी के माध्यम से समझकर, एवं अपने नवतत्त्वों को समझकर, अपने अन्दर ही अनुसंधान करता हूँ । अनुसंधान करने में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभावों में एक तो स्थायी-नित्य एकरूप ही रहनेवाला ध्रुवभाव है और दूसरा अनित्य-निरन्तर अनेक रूपों में बदलते रहने वाला अध्रुवपर्याय भाव है । मेरा ध्रुवभाव तो सिद्ध भगवान के समान ही है और उनकी पर्यायें, ध्रुवस्वभाव जैसी ही हैं । उनकी प्रगट पर्याय जैसा ही मेरा ध्रुव है । मेरे उस ध्रुवभाव

को ही परमपारिणामिकभाव, ज्ञायकभाव, त्रिकालीभाव, कारण-परमात्मा आदि अनेक नामों से जिनवाणी में सम्बोधित किया गया है। ऐसा ध्रुवभाव ही जीवतत्त्व मैं हूँ अर्थात् ऐसा सिद्धस्वभावी मैं हूँ। जिनमें भी मेरा जीवतत्त्व अर्थात् जीवत्वपना नहीं मिले वे सब मेरे लिये पर हैं एवं अजीव हैं। शेष रहे पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व, ये सातों ही मेरे अनित्यभाव, उत्पाद-व्ययवाली पर्याय में होते हैं वे भी मेरे ध्रुव में तो होते नहीं और मैं स्वयं ध्रुवभाव हूँ अतः वे भी मेरे से तो पर ही हैं वे सब मेरे आत्मद्रव्य की पर्यायें ही होते हुये भी वे सब मेरे ध्रुव में नहीं हैं, ध्रुव जैसे नहीं हैं, अतः वे मेरे (ध्रुव के) है ही नहीं और मैं सिद्ध स्वभावीध्रुवज्ञायकत्रिकाली ऐसा जीवतत्त्व हूँ। इसप्रकार ज्ञानी अपने त्रिकालीज्ञायक ध्रुव-भाव मैं ही अपनापना अर्थात् अहंपना स्थापन करके, अन्य सभी में परपना स्थापन कर लेता है। उनसे अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि प्रगटकर, एकत्व तोड़कर, निर्भार हो जाता है। इसप्रकार के दृढ़निर्णय के साथ-साथ शांति का मार्ग जो अभी तक अज्ञात था वह स्पष्टतया समझ में आ जाता है। परम शांतिरूपी सुख को प्राप्त करने की आतुरता और भी उग्र हो जाती है अर्थात् रुचि उग्र हो जाती है। पर के करने संबंधी कर्त्तृत्व के भार से हल्का होने से श्रीगुरु के बताये मार्ग के प्रति श्रद्धा और भी दृढ हो जाती है। इसप्रकार वस्तु के स्वभाव का यथार्थ स्वरूप जानकर, निर्णय कर, निश्चिंत होकर कर्त्तृत्व का अहंकार मिथ्या था और मिथ्या है ऐसा निःशंक निर्णय हो जाता है। फलस्वरूप रुचि भी उग्र होकर, जिनको पर समझा था, उनसे वृत्ति को समेटकर, मात्र स्व में ही अपनत्व करने के लिये उत्साहवान हो जाता है।

ज्ञेयों से वृत्ति समेटकर ध्रुव के सन्मुख करना

उपरोक्त निर्णय हो जाने पर भी अतीन्द्रिय आनन्द तो प्रगट नहीं होता; अतः उपयोग जो अभी तक पर की ओर सन्मुख रहता हुआ कार्यशील रहता है, उसको आत्मसन्मुख करने का प्रयत्न करता है। इस सम्बन्ध में विचारता है कि मैं तो ज्ञानस्वभावीआत्मा हूँ, ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक होने से वह हर समय स्व एवं पर दोनों को जाने बिना रह ही नहीं सकता और मुझे भी ऐसा ज्ञात होता है। जैसे कहता है कि मुझे क्रोध आया अथवा मैं शान्त हो गया; इसका अनुसन्धान करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि क्रोध आदि के उत्पन्न होने के पहिले ही, क्रोध को जानने वाला ऐसा मैं था, तभी तो यह भाषा निकली है कि मुझे क्रोध हुआ अथवा मैं शान्त हो गया। इससे ज्ञात होता है कि बिना प्रयास के भी सहज रूप से स्व का ज्ञान ऊर्ध्वपने सभी को होता है, अतः सिद्ध होता है कि जीवमात्र को स्व और पर का ज्ञान एकसाथ होता ही है। आगम प्रमाण से भी सिद्ध है। क्योंकि सत् ऐसा जीव पदार्थ तो अभेद अखण्ड एक ही है और वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तंसत् है, अतः ज्ञान का ज्ञेय तो परिपूर्ण सत् ही हो सकता है। अतः क्रोधादि सभी पर्यायगत भावों का ज्ञान होते समय, ध्रुव का ज्ञान नहीं होवे ऐसा कैसे हो सकता है। सत् के टुकड़े कौन करेगा ? सत् स्वयं तो टुकड़े कर ही नहीं सकता और ज्ञान तो ज्ञेय में पहुँचता ही नहीं अतः वह भी नहीं कर सकता। इसप्रकार आगम के आधार पर भी यह मानना युक्तिसंगत है कि अकेली पर्याय ही ज्ञान का विषय नहीं बनती वरन् पर्याय के ज्ञान के साथ-साथ ध्रुव ऐसे त्रिकाली ज्ञायक निजतत्त्व का जानना भी होता ही है। यह जानना उपयोगात्मक होता है, क्योंकि जब पर्याय का जानना उपयोगात्मक होता है, तो ध्रुव का जानना भी उपयोगात्मक ही होता है। प्रवचनसार

के कलश 6 के अर्थ में भी ऐसा कहा है :–

"आत्मारूपी अधिकरण में रहनेवाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञानतत्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धि के लिये – केवलज्ञान प्रगट करने के लिये प्रशम के लक्ष से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) ज्ञेयतत्व को जानने का इच्छुक (जीव) सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किंचित् मात्र भी उत्पत्ति न हो।"

इसके विपरीत अकेली पर्याय को ज्ञेय बनाने वाले को मिथ्यादृष्टि कहनेवाली प्रवचनसार की गाथा 93 का अर्थ निम्न है :–

"पदार्थ द्रव्यस्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ़ जीव परसमय है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।"

प्रश्न :– जब ध्रुव का जानना भी उपयोगात्मक होता है तो पर्याय के ज्ञान के समान ध्रुव का भी जानना हमको अनुभव में क्यों नहीं आता ?

समाधान :– इसी विषय का उत्तर समयसार गाथा 17-18 की टीका में निम्नप्रकार आया है।

"जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से **जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ** ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा, श्रद्धान उदित होता है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ-अज्ञानीजन को 'जो यह

अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता।"

इसी का विशेष स्पष्टीकरण पू. श्री कानजीस्वामी ने हिन्दी प्रवचनरत्नाकर भाग 1 के पृष्ठ 301-302 में किया है :

"अब आगे कहते हैं कि जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में – जानने में सदा स्वयं आनेपर भी, अनादिबंध के वश से स्वयं ही परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़-अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता तो उसके अभाव में, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता।

इसप्रकार यद्यपि सबको सदाकाल स्वयं आत्मा ही जानने में आता है; तथापि अज्ञानीजन कहते हैं कि आत्मा कहाँ जाना जाता है और ज्ञानी कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा को स्वयं का आत्मा ही ज्ञात होता है, किन्तु अज्ञानी इसको स्वीकार नहीं करते। पुण्य-पाप आदि जो विकल्प हैं, वे अचेतन–पर हैं। इससे ज्ञान की पर्याय में वे ऊर्ध्वपने ज्ञात नहीं होते, परन्तु जाननेवाला ही ज्ञात होता है।

इसप्रकार सबको स्वयं ही अनुभव में आता हुआ भी अनादि बंध के वश से अर्थात् अनादि कर्मबंध के कारण से नहीं, बल्कि अनादि बंध के स्वयं ही वश होने से, 'ज्ञाता-ज्ञाता-ज्ञाता मैं ही हूँ'– यह नहीं मानकर 'राग मैं हूँ' – ऐसा मानता है। यह तो सिद्धान्त है कि कर्म के कारण विकार नहीं होता, आत्मा स्वयं से ही अपनी तत्समय की योग्यता से ही अनादि से बंधमय है, इसलिए विकार होता है। अर्थात् सबको जानन-जानन-जानन भाव जानने में आता है, शरीर व राग को जानता हुआ भी जानने वाला ही ज्ञात होता है; परन्तु मैं तो

अनुभूतिस्वरूप आत्मा हूँ, यह जानने वाला 'मैं हूँ' – ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है।"

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि ज्ञानी अज्ञानी सबको अपना त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव हर समय हर ज्ञान की पर्याय में साथ ही ज्ञात तो होता है और ज्ञात भी ऊर्ध्वपने से ही होता है। लेकिन ध्रुवभाव जो कि वास्तव में सिद्ध स्वभावी है और मेरे आत्मा का स्वरूप है। वही सिद्ध दशा मैं प्राप्त भी करना चाहता हूँ और वही एकमात्र स्व (अपना) मानने योग्य है, उसको ही अज्ञानी स्व (अपना) नहीं मानता। उसके विपरीत अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के कारण क्षण-क्षण में पलट जाने वाली अनित्य स्वभावी पर्याय में मैं पना (अपनापना) मान लेता है। इसीकारण अज्ञानी को पर्याय सम्बन्धी कार्य तो होते हुये दिखते रहते हैं और ध्रुव में अपनापन नहीं होने से ज्ञात होते हुये भी वह ज्ञात नहीं होता। पर्याय तो व्यक्त है, स्थूल है, संयोगी भाव होने से संयोग (जड़) स्वभावी होने से वह भी कथंचित् मूर्त है और अज्ञानी को अनादिकाल से उसी के प्रति रुचि एवं अपनापन चलता चला आ रहा है, इन्हीं कारणों से ध्रुव ज्ञात होते हुये भी उस ओर अपना उपयोग सन्मुख ही नहीं करता।

ज्ञेयों को जानने वाली पर्याय के संबंध में विश्लेषण करने पर सहज ही समझ में आता है कि वह पर्याय तो मेरी पर्याय है, उसने न तो ज्ञेय को स्पर्श किया, न वह अपने क्षेत्र को छोड़कर ज्ञेय तक गई और न ज्ञेय के कारण उत्पन्न ही हुई है; वह तो मेरी ज्ञानपर्याय की तत्समय की योग्यता ही प्रकाशित हुई है। उस समय की योग्यता ही उस ज्ञेय के आकाररूप परिणमित हुई है। अतः वास्तविक स्थिति तो यह है कि मैं ज्ञेयों को तो जानता ही नहीं हूँ वरन् अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता हूँ। लेकिन उस योग्यता के उस समय के परिणमन का

परिचय, ज्ञान में ज्ञेय का उपचार करके, कराने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं होने से जिनवाणी में भी ऐसा कथन किया जाता है कि आत्मा ने ज्ञेय को जाना। लेकिन ऐसा कथन वास्तव में व्यवहार कथन समझ लेना चाहिए।

श्री गुरु के उपरोक्त उपदेश को ग्रहण करके आत्मार्थी उसका गम्भीरता एवं रुचिपूर्वक, जिज्ञासु भाव से विचार एवं मंथन करता है; अपनी परिणति को आत्मसन्मुख करने की तीव्र भावना होने से श्री गुरु से विनम्र होकर, प्रश्नोत्तर करके उसको पूर्णतया हृदयंगम करके, ज्ञेय मात्र के प्रति (ज्ञेय में परद्रव्य तो दूर रहे, वे तो आत्मा में असद्भूत ही हैं लेकिन आत्मा में उत्पन्न होने वाले नवतत्त्वों संबंधी भावों का भी समावेश हो जाता है) अत्यन्त उपेक्षित होकर अपनी वृत्ति अर्थात् परिणति को समेटता है। त्रिकाली ज्ञायकभाव जो अनन्त गुणों का निधान एवं अनाकुलता रूप परम शांति (आनन्द) का भण्डार, सिद्ध स्वभावी है उस एक में ही अपनापन स्थापन कर सर्वस्व समर्पण करने के लिये तीव्र उत्साहवान हो जाता है।

दोनों कथनों का सारांश

इसप्रकार अनादिकाल से अपना माने हुये ऐसे शरीर और शरीर से संबंध रखने वाले सभी पदार्थों में से अपनापन छोड़कर अकेले अपने स्व आत्मद्रव्य में अपनी परिणति को समेटकर, उन सभी पदार्थों के प्रति परपना आ जाने से उनकी ओर से उपेक्षित भाव हो जाता है। फलतः उन सबमें एकत्व बुद्धि-ममत्वबुद्धि-कर्ताबुद्धि-भोक्ता-बुद्धि विसर्जित हो जाती है। उनके अनुकूल प्रतिकूल परिणमन के कारण होने वाली आकुलता भी सीमित हो कर आंशिक निर्भार हो जाता है। आंशिक शांति भी वर्तने लगती है और उनके प्रति गृद्धता अल्प हो जाने से लौकिक जीवन में भी परिवर्तन आ जाता है।

उपरोक्त प्रकार से संयोगों के प्रति परपना आ जाने से वृत्ति स्वद्रव्य में सीमित हो जाती है। तत्पश्चात् आत्मद्रव्य में उत्पन्न होने वाले संयोगी भावों के संबंध में श्रीगुरु के उपदेशानुसार विचार करता है। अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव ऐसे ध्रुवभाव में स्वपना (अपनापन) मानकर पर्यायगत सभी प्रकार के भावों का स्वरूप समझकर, गम्भीर मंथनपूर्वक भेदज्ञान करता है। पर्यायगत सभी शुद्धाशुद्ध अनित्य भावों को अपने त्रिकाली स्वभाव से भिन्न मानकर उनमें भी परपना स्थापन कर लेता है। उनके प्रति भी प्रीति-हितबुद्धि-उपादेयबुद्धि छोड़कर, त्रिकाली स्वभाव से विपरीत प्रकार के होने से उनको अनित्य स्वभावी मानकर, उनके प्रति भी एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व छोड़कर, उनके स्वामित्वपने की मान्यता भी छोड देता है। फलतः उनके कर्तृत्व के भार से भी निर्भार होकर उनको ज्ञान में गौण कर, उपेक्षित रहता हुआ उन सबसे भी सिमट जाता है। परिणति एक मात्र अपने ज्ञायक भाव के प्रति आकर्षित होती है तथा रुचि और भी तीव्र हो जाती है।

इसप्रकार संयोगों एवं संयोगी भावों के प्रति भी अपनी बुद्धि एवं मान्यता में परपना उत्पन्न हो जाने से, त्रिकाली ज्ञायकभाव के प्रति आकर्षण और भी उग्र हो जाता है। उपरोक्त समस्त उपलब्धियों का श्रेय तो मात्र एक अपने ज्ञायकअकर्तास्वभावीआत्मतत्त्व का स्वरूप समझकर उसमें अपनापन मान लेना ही है। स्वतत्त्व में अपनापन आने से त्रिकाली ज्ञायक के अतिरिक्त सभी में परपना आता ही है और उनके प्रति उपेक्षाबुद्धि होती ही है। फलस्वरूप उनके अनुकूल प्रतिकूल परिणमन होने पर भी आकुलता कम हो जाने से आंशिक शांति का वेदन भी रहता है।

उपरोक्त स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी जब आत्मा का अनुभव नहीं होता, तब पुनः श्रीगुरु से विनम्र प्रार्थना करता है। तब श्रीगुरु

आत्मानुभव करने की संक्षेप व सरल रीति समझाते हैं। जिसका सारांश निम्न है :–

ज्ञान की पर्याय तो ज्ञायक की स्वाभाविक पर्याय है। उसका स्वभाव तो स्वभाववान ऐसे अपने स्वामी को जानना ही है और उसका स्वामी तो हर एक पर्याय में ध्रुव के रूप में विद्यमान रहता ही है। उसके जानने में कोई बाधा है ही नहीं और हो भी नहीं सकती। लेकिन आत्मा का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक होने से उस ज्ञान पर्याय के समक्ष अकेला अपना ध्रुवतत्व ही ज्ञेयाकाररूप में नहीं रहता वरन् साथ ही, उन सभी संयोगी पदार्थों एवं संयोगी भावों संबंधी ज्ञेयाकार भी उसी पर्याय में उपस्थित रहते हैं। ऐसी स्थिति में अज्ञानी जीव ने अनादिकाल से, अपना त्रिकाली ज्ञायक जो कि वास्तव में स्व है, उसको अपना नहीं माना और पर को ही अपना मानता चला आ रहा है। इसलिये उसको मात्र पर को जानने की रुचि वर्तती है। फलतः उसको पर का ही ज्ञान होता हुआ ज्ञात होता है। अपना वास्तविक स्वामी उपस्थित होते हुये भी, उसके जानने की रुचि के अभाव में वह ज्ञात नहीं होता।

पर के जानने के संबंध में भी वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि अपनी ज्ञान की पर्याय में पर्यायगत योग्यता के अनुसार, परज्ञेयों संबंधी जो ज्ञेयाकार बने हैं, मात्र उन्हीं को जानता है, उन परज्ञेयों को जानने के लिये ज्ञान न तो ज्ञेय तक जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान तक आते हैं दोनों ही अपने स्व चतुष्टय को कभी छोड़ ही नहीं सकते। ज्ञान की पर्याय को, ज्ञेय को जानने के लिये उसके सन्मुख भी नहीं करना पड़ता, उससे विपरीत ज्ञान पर्याय तो, जो अपनी योग्यता से ज्ञेय के आकार परिणमी है, अपनी ज्ञान पर्याय को जानता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि ज्ञान पर्याय ने अपनी ज्ञान पर्याय को ही जाना है। वास्तव में स्वलक्ष्य पूर्वक ही पर का भी ज्ञान होता है।

लेकिन अज्ञानी को ज्ञेयों की रुचि होने से अपने ज्ञान को परलक्षी ही बनाये रखता है और ज्ञेयाकारों से ज्ञेयों के संबंध ज्ञान नहीं होने से सीधा, ज्ञेय पर पहुँच जाता है और मान लेता है कि मैंने उस ज्ञेय को जाना। फलतः उसका ज्ञान परलक्षी ही बना रहता है।

जिनवाणी में भी एक समयवर्ती ज्ञान की पर्याय में परसंबंधी ज्ञेयाकारों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये और किस ज्ञेय का आकार है, ऐसा परिचय कराने के लिये व्यवहार से ऐसा कथन किया गया है कि ज्ञान ने अमुक ज्ञेय को जाना। लेकिन अज्ञानी ऐसे कथन को वास्तविक मानकर अपनी मिथ्या मान्यता और भी दृढ़कर लेता है।

ऐसा अज्ञानी श्री गुरु के परमकल्याणकारी उपदेश से, उपरोक्त बताये गये मार्ग के द्वारा, संयोगों और संयोगी भावों की यथार्थ स्थिति समझकर, उनको अपने से भिन्न तथा पर मानकर, उनके प्रति उपेक्षित होकर, अपनी ज्ञान परिणति को आत्मसन्मुख करने का पुरुषार्थ करता है। अज्ञानी को ज्ञान की पर्याय में स्व के साथ पर संबंधी ज्ञेयाकार, तथा उन के निमित्त ऐसे वे पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं; उनको भी उपरोक्त प्रकार से अपने त्रिकाली भाव से भिन्न और पर समझने से उनके प्रति भी उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वे अपनी ज्ञान की पर्याय में वर्तते हुये भी गौण हो जाते हैं अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक भाव मुख्य होकर ऊर्ध्व (सर्वोत्कृष्ट) हो जाता है। अपनी रुचि-वृत्ति-परिणति उनकी (ज्ञेयाकारों एवं ज्ञेय की) ओर से भी सिमटती है और अपने स्वामी त्रिकालीभाव में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व करने के लिये तीव्र उत्साहवान हो जाती है। रुचि की उग्रता और भी तीव्र हो जाती है। फिर भी अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति नहीं होती। अतः पात्र आत्मार्थी जिज्ञासापूर्वक अत्यन्त विनम्र होकर श्री गुरु से ऐसे अवरोध को दूर करने का मार्ग समझता है। परिणति को एकाग्रकर आत्मानन्द को

प्राप्त करने का प्रयास करने को अत्यन्त उत्साहित होता है।

ध्यान रहे देशनालब्धि के लिये ऐसी पराधीनता नहीं है कि श्रीगुरु से प्रार्थना करने पर ही प्राप्त हो। साक्षात् देशना तो दिव्यध्वनि है और वही परम्परा से ज्ञानीगुरु तक चली आ रही है; उनकी देशना तो बिना प्रार्थना के ही प्राप्त होती है, वास्तव में तो पात्र जीव की रुचि की उग्रता एवं पर्याय की योग्यता का परिणमन ही वास्तविक (उपादान कारण) है; उपदेश तो मात्र निमित्त है। सहज देशना का मिलना अथवा उपदेश से प्राप्त होना तो मात्र तत्समय के निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन है। आत्मार्थी को मोक्षमार्ग की साधना में जब कहीं अटकाव आता है, तब बहुभाग तो वह स्वयं ही मार्ग ढूंढ निकालता है अन्यथा अपने से भी विशेष बढ़ चुके ज्ञानी हों, उनसे समागम करके अवरोध के अभाव करने का मार्ग श्रीगुरु से प्राप्त करता है। ऐसी सामान्य प्रक्रिया है।

श्री प्रभाकरभट्ट ने अपने गुरु योगीन्दुदेव से इसीप्रकार की प्रार्थना की थी जो परमात्मप्रकाश ग्रंथ की गाथा 8 व 9 की टीका के अन्त में है :–

"आगे जिस परमात्म-स्वभाव के अलाभ में यह जीव अनादिकाल से भटक रहा था, उसी परमात्मस्वभाव का व्याख्यान प्रभाकर भट्ट सुनना चाहता है – देवगति, मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगतियों के दुःखों से तप्तायमान (दुःखी) संसारी जीवों के चार गतियों के दुःखों का विनाश करने वाले जो कोई चिदानन्द परमात्मा, उसके स्वरूप को कृपा करके हे श्रीगुरु, तुम कहो।"

"भावार्थ :–यह चिदानन्द शुद्ध स्वभाव परमात्मा, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह के भेदरूप संज्ञाओं आदि को लेकर समस्त विभावों से रहित, तथा वीतराग निर्विकल्पसमाधि के बल से निज स्वभावकर उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतकर सन्तुष्ट हुआ है हृदय जिनका, ऐसे

निकट संसारी-जीवों के चतुर्गति का भ्रमण दूर करने वाला है, जन्म जरा मरणरूप दुःख का नाशक है, तथा वह परमात्मा निज स्वरूप परमसमाधि में लीन महामुनियों को निर्वाण का देनेवाला है, वही सब तरह ध्यान करने योग्य है, सो ऐसे परमात्मा का स्वरूप तुम्हारे प्रसाद से मैं सुनना चाहता हूँ। इसलिये कृपाकर आप कहो। इसप्रकार प्रभाकर भट्ट ने श्री योगीन्द्रदेव से विनती की।"

इसप्रकार आत्मार्थी की तीव्ररुचि एवं पात्रता के साथ ही वर्तमान पर्याय एवं संसार-देह-भोगों के प्रति विरक्ति के भाव देखकर, श्रीगुरु ने करुणापूर्वक स्पष्टीकरण किया है।

श्री गुरु ने समझ लिया कि आत्मार्थी स्वद्रव्य (स्वज्ञेय) में बसने वाली अनेकताओं के विषय में से अपने ज्ञायक एकभाव को भिन्न करके उपयोग का मात्र एक ज्ञायक ही कैसे बनें, उस पद्धति को समझना चाहता है। उसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है –

अनेकताओं से भी वृत्ति समेटकर ध्रुव के सन्मुख करना

ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर-प्रकाशक है, यह तो भलीप्रकार समझा जा चुका है। अतः पर प्रकाशक ज्ञान के विषयों के सम्बन्ध में तो ऊपर चर्चा करके उनको अपने से भिन्न समझकर व मानकर उनके प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न कर उनसे तो वृत्ति को समेटकर आत्मसन्मुख करने का उपाय समझ लिया गया। लेकिन आत्मा जब अपनी वृत्ति को वहाँ से समेटकर आत्मसन्मुख करने का प्रयास करता है तो आत्मा के स्व प्रकाशक ज्ञान के विषय में भी त्रिकाली ज्ञायक भाव नहीं मिलता, वहाँ भी अनन्त गुणों की विस्तृत भीड़ तथा पर्यायों की अनेकतायें मिलती हैं। उनमें विकारी एवं अविकारी (निर्मल) पर्यायमात्र को अनित्य स्वभावी मानकर, दोनों को त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी नित्य भाव से विरुद्ध, अपने से भिन्न पर मानकर, उनको परप्रकाशक ज्ञान के विषयों

में सम्मिलित करके, उनकी ओर से भी वृत्ति को समेटने से तो स्वप्रकाशक ज्ञान का विषय ऐसा त्रिकालीज्ञायकभाव मेरे को मिल जाना चाहिए ? लेकिन उसके स्थान पर अनन्त गुणों की विस्तृत भीड़ ही मिलती है, त्रिकाली तो दिखता ही नहीं ? साथ ही वे अनन्त गुण सभी त्रिकाली भी हैं, ध्रुव भी हैं, अत्यन्त निर्मल शुद्ध हैं तथा नित्य-अपरिणामी भी हैं। अतः त्रिकाली भाव के सभी गुण इनमें भी मिलते हैं। इसलिये समस्या उत्पन्न होती है कि इनमें से अपने स्वभाव को कैसे ढूंढकर प्राप्त किया जा सकेगा ? ऐसा पात्र जीव गुरु कृपा से अनेक उलझनों को सुलझाता हुआ सफलता के किनारे आ चुका है; आत्मदर्शन करने की आतुरता अर्थात् रुचि बहुत उग्र हो गई है। ऐसी स्थिति में अवरोध आने पर पुरुषार्थ और भी उग्र हो जाता है।

ऐसे पात्र जीव को श्री गुरु समझाते हैं कि हे भव्य ! इस अपार भीड़ की उपस्थिति को जानने वाला भी उस भीड़ के समय उपस्थित है या नहीं, विचार कर ? अगर वह नहीं है तो अनन्त गुणों की अपार भीड़ है, यह ज्ञान तुझे कहाँ से हो गया ? और अगर उन सबको भी जानने वाला उपस्थित है तो वही तो तू है; इस अपार भीड़ को भी जान लेने वाला एक तू ही तो है। जो अनन्तगुणों को भी जान लेवे वह बड़ा (महान) है या वह अपार भीड़ महिमा करने योग्य है ? इस पर विचार कर, मंथन कर और निर्णय कर इस अनन्त गुणों की भीड़भाड़ को जो भी जानने वाला है वह अकेला 'मैं' ही (त्रिकालीज्ञायकभाव) हूँ और जो भी उस ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं वे सब मैं नहीं हूँ। इसप्रकार गुणभेदों को भी इस अपेक्षा अपने त्रिकालीज्ञायक भाव से 'पर' मानकर, उनके प्रति भी उपेक्षा वृत्ति उत्पन्न कर लेता है। वे सब द्रव्य में उपस्थित रहते हुये भी, ज्ञान में अत्यन्त गौण हो जाते हैं। इसप्रकार सब तरफ से अपनी वृत्ति को समेटकर, एकमात्र त्रिकाली निज परमात्मा पर अपने

उपयोग को एकाग्र कर देने से अवश्य आत्मदर्शन प्राप्त हो जावेगा। परम आनन्द का पानकर अनन्त संसार का उच्छेद कर मोक्षमार्गी बन जावेगा। ऐसे परम कल्याणकारी उपदेश को सुनकर वह पात्र जीव उस मार्ग का अनुकरण करने का उग्र पुरुषार्थ करने को तत्पर होता है। ऐसे पात्र जीव की रुचि उपरोक्त मार्ग समझ में आ जाने से अत्यन्त उग्र हो जाती है।

इसप्रकार समझने का कार्य तो देशनालब्धि में ही होकर यथार्थ निर्णय पर पहुँच जाता है। इसप्रकार देशनालब्धि की चरमदशा का निर्णय उपरोक्त प्रकार से होकर आत्मार्थी, अपने ज्ञान व श्रद्धान का विषय मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा को ही, निर्णय श्रद्धा को उपस्थित कर देता है। इससे आगे की लब्धियों में निर्णय करने का कार्य तो रहा ही नहीं अब तो एक मात्र रुचि की उग्रता का ही कार्य रह जाता है, उसी उग्रता के परिणामों की तारतम्यता को प्रायोग्य एवं करणलब्धि कहा गया है। देशनालब्धिमें रुचि के साथ-साथ समझने की मुख्यता रहती है और प्रायोग्यलब्धि में अस्ति-नास्ति पूर्वक स्वरूप चिंतन के साथ-साथ रुचि की उग्रता मुख्य हो जाती है। तत्पश्चात् चिंतन संबंधी परिणाम तो मृतप्रायः स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं और रुचि का फल उपयोग निर्विकल्पता को प्राप्त होकर आत्मानुभव प्राप्त कर लेता है। इन लब्धियों के परिणामों की मर्यादा बांधना संभव नहीं है।

उपेक्षाबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी

यथार्थ रुचि रहित जीव के इन्द्रिय ज्ञान में, भाषा में एवं तत्संबंधी विकल्पों में तथा लेखन में भी उपेक्षाबुद्धि का विवेचन कर देना सरल है। आत्मा के ज्ञान श्रद्धान के बिना के उदासीन भाव एवं उपेक्षावृत्ति उत्पन्न तो यह जीव अनन्त बार कर चुका, इसलिये ऐसा

हो जाना अपूर्व नहीं होने से वह भी सरल है। लेकिन वास्तविक उपेक्षावृत्ति उत्पन्न होना इन सबसे भिन्न ही प्रकार का होता है। वास्तविक उपेक्षाबुद्धि का फल तो आत्मदर्शन होना ही चाहिए।

आत्मदर्शन करने के मार्ग को समझकर जब आत्मार्थी पात्र जीव आत्मानुभव प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो अस्ति (मुख्य) अर्थात् स्वपने तो उसके ज्ञान श्रद्धान का विषय एक मात्र शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत त्रिकालीज्ञायक कारणपरमात्मा ही रहता है और वही रहना भी चाहिये। लेकिन इसकी निर्विकल्प अनुभूति में बाधक, ऐसे जो नास्ति अर्थात् उपेक्षा करने योग्य अनेकप्रकार के ज्ञेयों का ज्ञान, बीच में आने पर उसमें वृत्ति का रुक जाना ही अवरोध उत्पन्न कर देता है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक उपेक्षावृत्ति का लक्षण तो यह है कि जिसको हमने पर माना है, आत्मानुभूति में बाधक अर्थात् शत्रु माना है उसको तो आत्मानुभूति के पुरुषार्थ के समय ज्ञान में आना ही नहीं चाहिए; लेकिन अगर मेरी निर्बलता के कारण फिर भी ज्ञान में आ जावे तो त्रिकाली परमात्मा में अपनेपन एवं उग्र रुचि के बल से वे अत्यन्त गौण रहने चाहिये। आत्मा के उपयोग को आत्मदर्शन करने में बाधक नहीं बन सकते। यही उपेक्षा वृत्ति है।

तात्पर्य यह है कि पर में उपेक्षाबुद्धि प्रगट करने का मूल आधार तो अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापन आना ही है। ज्ञानी-अज्ञानी सबके ज्ञान में स्व एवं पर दोनों के आकार तो झलकते हैं। उनमें से जिनमें अपनापन माना हो वे स्व के रूप में ज्ञात होते हैं उसीसमय अन्य सब में अपनापना नहीं होने से गौण रह जाते हैं। ऐसा तो ज्ञान का सहज स्वभाव है। इस प्रक्रिया में पर में परपना आने से ही पर तो सहजरूप से उपेक्षित हो जाते है, करने नहीं पडते। लेकिन

अज्ञानी ने त्रिकाली ज्ञायकभाव को तो जाना ही नहीं है, फलतः वास्तव में जिसमें स्वपना होना चाहिए ऐसे अपने त्रिकाली भाव में तो स्वपना हुआ ही नहीं है; और जो वास्तव में आत्मा से पर होने से पर ही हैं, उन्हीं में अपना अस्तित्व मानता एवं जानता हुआ प्रवर्तता रहता है। साथही श्रद्धागुण की विपरीतता (मिथ्यामान्यता) के कारण, पर ज्ञेयों में ही किसी को स्व मानकर स्व के रूप में ही जानने मानने लगता है और किसी को पर मानकर पर के रूप में जानने मानने लगता है। इन्हीं कारणों से मिथ्याश्रद्धा के साथ अज्ञानी का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहा गया है, इसप्रकार अपना त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो वास्तव में स्व है और ज्ञान में वर्त भी रहा है वह अज्ञानी को तो उपेक्षित अथवा गौण ही नहीं वरन् नहींवत् बना रहता है। इसलिये अज्ञानी को जबतक श्रद्धा में (मान्यता में) स्व में स्वपना स्थापन नहीं होगा तबतक वास्तव में पर के प्रति वास्तविक उपेक्षाबुद्धि प्रगट नहीं होगी और जो वास्तविक पर हैं, उनहीं में स्व और पर का विभागीकरण करता रहेगा और इसी को मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हो जाता है। इस प्रक्रिया में पर में ही उपेक्षाबुद्धि के विकल्प करता हुआ कर्ता बुद्धि का पोषण करता रहता है। अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापन करना जो वास्तविक उपाय है; उससे वंचित बना रहता है।

प्रश्न :– तो फिर अज्ञानी को पर के प्रति वास्तविक उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न करने के लिये क्या उपाय करना रह जाता है ?

समाधान :– अज्ञानी को भी उपरोक्त मार्ग की यथार्थता समझकर, उसपर दृढ श्रद्धा पूर्वक यथार्थ पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि अन्यथा पुरुषार्थ से यथार्थ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये जिनवाणी के अध्ययन से अथवा ज्ञानी पुरुषों के समागम से अपने आत्मा के सामर्थ्य एवं स्वरूप आदि को समझकर, तथा ऐसा

परिपूर्ण सामर्थ्यवान मेरा त्रिकाली ज्ञायकभाव है, ऐसी दृढतम श्रद्धा पूर्वक, दृढतम विश्वास जाग्रत करना चाहिए कि सिद्धस्वभावी एवं सामर्थ्यवान मैं स्वयं ही हूँ। इसप्रकार की मेरेपने की श्रद्धा जाग्रत करनां सर्वप्रथम कर्तव्य है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होते ही सिद्धदशा प्रगट करने की रुचि तीव्रता एवं परिणति शुद्धता को प्राप्त हो जाती है। इसप्रकार की रुचि एवं परिणति प्रगट होते ही, त्रिकाली ज्ञायक के अतिरिक्त ज्ञान में ज्ञात होनेवाले सभी ज्ञेय, एकमात्र पर ज्ञेय की कोटि में ज्ञात होने लगते हैं, फलतः अज्ञानी को भी उनके परिणमन के प्रति कर्तृत्व की मान्यता में ढीलापन आकर, उनके प्रति उत्साह ढीला पड़ने लग जायेगा। अपने उपयोग को उस ओर से व्यावृत्य करके अपने त्रिकाली की ओर सन्मुखता लाने के लिये, पर ज्ञेयों में परपना, दृढ करने की मुख्यता से, उनके परिणमन की अनित्यता एवं स्वतंत्रता, समझकर, उनसे उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न करता हुआ; उनके परिणमन का स्वामित्वपना छोड़कर उनसे निरपेक्ष होने का प्रयास करता है। मेरे ज्ञान में ज्ञात होने को भी, ज्ञान पर्याय की तत्समय की योग्यता के प्रदर्शन में निमित्त पना मानता है। वह भी स्वतंत्ररूप से वर्तने वाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध तत्समय की पर्याय के साथ मानकर उनसे भी अत्यन्त उपेक्षित रहता है और मानता है कि मेरा अस्तित्व तो त्रिकाली है इसलिए इस अनित्यस्वभावी पर्याय के साथ तो मेरा सम्बन्ध ही नहीं रहता। इसप्रकार के विचारों द्वारा, अपने त्रिकालीभाव में अपनापन और उसके अतिरिक्त अन्य समस्त परज्ञेयों के प्रति परपने का विश्वास-श्रद्धा जाग्रत करने से, रुचि का वेग विशेष तीव्र हो जाता है। फलस्वरूप उपयोग भी पर से व्यावृत्य होकर अपने त्रिकाली ज्ञायक के सन्मुख होने का प्रयास करेगा तो उसके फलस्वरूप आत्मानुभूति प्रगट होकर, परज्ञेयों के प्रति सहज ही उपेक्षा बुद्धि

(गौणता) प्रगट हो जावेगी। यही वास्तविक मार्ग है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 312 पर भी यथार्थ तत्वनिर्णय करने पर ही बल दिया है –

"इसलिये जो विचारशक्ति सहित हों और जिसके रागादिक मन्द हों - वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहार धर्मकार्यों में प्रवर्ते; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्तव्य तत्त्व निर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है।"

इसलिये अपने स्वरूप का अपने रूप तथा पर का परपने रूप निर्णय कर, स्व की ओर की रुचि की उग्रता ही मोक्षमार्ग का यथार्थ पुरुषार्थ है। उसके होनेपर आत्मा की क्रमशः पूर्णता होना प्रारंभ हो जाती है।

इसकी सफलता का मूल आधार तो त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा की रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता है। अस्ति के विकल्प करना अर्थात् बारम्बार घोखते रहना रुचि की उत्पत्ति एवं वृद्धि का उपाय नहीं है विकल्प उठाये एवं बारम्बार स्मृति में लाये बिना ही, सहज रूप से त्रिकालीज्ञायकभाव की स्वपने की महिमा के ही विकल्प

उठते रहें तथा बिना प्रयास के भी उस ही की महिमा बारम्बार अन्तर में उल्लसित होती रहे; अन्तर में ज्ञानस्वभावी वस्तु के प्रति दृढ़तापूर्वक निःशंक विश्वास बढ़ता रहे, यही वास्तविक उपाय है। अन्तर में ऐसी प्रतीति जाग्रत रहती है कि मैं तो सिद्ध के समान ही मात्र ज्ञायक परमात्मा हूँ। मेरे में से पर्यायें निकलती हैं उनका ज्ञान भी ज्ञान ही का उत्पाद है, ज्ञान पर्याय की योग्यता का ही प्रदर्शन है, ज्ञेयों का नहीं; वे तो मात्र उसके निमित्त रहते हैं, नैमित्तिक तो मेरी ज्ञान पर्यायगत योग्यता है वह तो मेरी ही ज्ञान पर्याय है, इसलिये ज्ञेयों से तो मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता, वे तो मेरे लिये पर एवं परम उपेक्षणीय होने से अत्यन्त गौण रहने योग्य हैं। अगर उनके प्रति मेरे को जरा भी अपेक्षा भाव-उपादेयता का भाव जाग्रत हुआ तो मेरे ज्ञायक परमात्मा के दर्शन में बाधा उत्पन्न हो जावेगी, क्योंकि मेरा उपयोग उन में रुक जावेगा।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर-प्रकाशक होने से, इसकी पर्याय का उत्पाद, हर समय स्व तो अपना त्रिकालीज्ञायकाकारज्ञान तथा पर अपनी परप्रकाशकज्ञान की तत्समयगत योग्यता, दोनों का एक ही साथ उस पर्याय में हुआ है अतः जिसमें अपनापन होने के साथ-साथ जानने की भी रुचि होती है, उसी के दर्शन हो जाते हैं अर्थात् ज्ञात होता हुआ मालूम होता है। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान अपनी ही ज्ञान पर्याय को जानता है, 'पर' संबंधी ज्ञान के ज्ञेयाकार भी तो स्वयं की ज्ञानपर्याय ही है। अतः ज्ञान का विषय तो अपनी ज्ञानपर्याय ही रही, उसके माध्यम से ही पर सम्बन्धी ज्ञेयों का ज्ञान हुआ है। नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार के श्लोक 286 में कहा भी है :–

"ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है; इसलिये निज (हमारा)

आत्मा अभी साधकदशा में एक अपने आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है और यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूप से) आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा।"

और इसीप्रकार अन्य गाथा द्वारा कहा है कि :–

"ज्ञान जीव से अभिन्न है इसलिये वह आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा।।286।।"

वास्तव में तो पर ज्ञेयों का ज्ञान उन ज्ञेयों में पहुँचकर अथवा ज्ञेयों के सन्मुख होकर भी आत्मा उनको नहीं जानता वरन् अपनी ही पर्याय को जानने में उनका भी ज्ञान आ जाता है। इसप्रकार अपने स्वक्षेत्र में रहकर ही स्व एवं पर का ज्ञान करता है। फलतः ज्ञाता भी स्व, ज्ञेय भी स्व और ज्ञान भी स्व होने से तत्संबंधी भेद विकल्पों का भी विसर्जन हो जाने से निर्विकल्प आत्मानुभूति प्राप्तकर, कृतकृत्य हो जाता है।

इसप्रकार सिद्ध होता है कि ज्ञान का वास्तविक स्वभाव तो स्व को जानना है और जब स्व को जानता है तो हर एक उत्पाद में स्व, अपना त्रिकाली ध्रुवभाव तो विद्यमान ही होता है अतः ज्ञानको अपने आपको ही जानते रहना चाहिये। लेकिन अज्ञानी को अनादि से पर में सुखबुद्धि-हितबुद्धि तथा अपनेपने का विश्वास होने से अपना त्रिकाली भाव ज्ञात होते हुये भी उसको उल्लंघन करके नहींवत् मानता हुआ अपने उपयोग को पर की ओर ही केन्द्रित रखकर तन्मय होने की चेष्टा करता रहता है और असफल वर्तता हुआ आकुलता भोगता रहता है। ज्ञानी इससे विपरीत वर्तता है। उसके विश्वास-श्रद्धा में अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापना-सुखबुद्धि-हितबुद्धि आदि होने से, अपनी ही व्यक्त पर्याय में उपस्थित, उस ज्ञायक की ओर वृत्ति केन्द्रित

रहती है और परज्ञेय पर्याय में ज्ञात होते हुये भी पर की रुचि के अभाव के कारण उपेक्षित-गौण रह जाने से अपने पुरुषार्थ को वृद्धिंगत करता हुआ वर्तता रहता है।

ज्ञेयाकारों से उपेक्षावृत्ति कैसे हो ?

जिस कार्य के करने में सफलता मिलने का विश्वास होता है, सामान्यतया उस कार्य के करने के लिये हर एक को उत्साह जाग्रत हुये बिना नहीं रहता, ऐसा ही हम को अनुभव भी होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, जिन ज्ञेयों के करने धरने के सम्बन्ध में विचार उठते हों, उनका विश्लेषण करना चाहिये।

सबसे प्रथम तो जिस ज्ञेय का मुझे ज्ञान हुआ लगता है, वह वास्तव में तो मेरी ज्ञान की ही पर्याय है; ज्ञेय का तो मेरे ज्ञान तक आना ही सम्भव नहीं है। दूसरी स्थिति यह है कि जिसके करने धरने का विचार उत्पन्न हो रहा है, वह ज्ञेय पदार्थ स्वयं स्वतंत्र सत् पदार्थ है, उसका उत्पाद होना या विनाश होना तो उस पदार्थ की पर्याय है, उसको करने वाला तो वह पदार्थ है। उसके क्षेत्र में पहुँचने का न तो मुझे अधिकार ही है और मैं कितना भी प्रयास करुं तो पहुँच भी नहीं सकता, करना चाहूँ तो कर भी नहीं सकता तथा रोकना चाहूं तो वह रुक भी नहीं सकता। मुझे अनुभव है कि मेरे शरीर में रोग आते समय मेरे रोकने के प्रयास करने पर भी रुकता नहीं और अभाव करना चाहने पर मिटता भी नहीं। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती तथा अनादि से साथ चला आ रहा, यह शरीर, उस पर भी मेरे प्रयास निष्फल जाते हैं तब अन्य जो दूरवर्ती पदार्थ है उनमें तो मेरे प्रयास सफल हो ही नहीं सकते। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार के चिन्तन तथा ज्ञेयों में परिवर्तन करने के विचारों की असफलता के विचारों द्वारा तथा यथार्थ श्रद्धा-विश्वास जाग्रत होने पर उन सबके

प्रति उत्साह भंग हो जाता है फलतः उपेक्षावृत्ति वर्तने लगती है। कदाचित् पूर्व पुण्य के उदय से किसी को सफलता मिलने पर भी, उपरोक्त वस्तु के स्वभाव की निःशंक श्रद्धा के बल से विचलित नहीं होता, क्योंकि अनुकूल प्रतिकूल संयोगों का मिलना तो पूर्ववर्ती पुण्यपाप के उदय के निमित्त से होता है; उससे सिद्धान्त नहीं बदल जाते। ज्ञान तो निरन्तर जानने का कार्य करता ही रहता है। अतः इन सब परिवर्तनों का करने वाला तो तत्-तत् द्रव्य ही है, उनमें प्रमेयत्व गुण होने से वे मेरे ज्ञान के विषय भी अवश्य बनेंगे अर्थात् ज्ञात अवश्य होंगे। निष्कर्ष यह है कि इन ज्ञेयों के परिवर्तन ज्ञात होना भी मेरी ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशक शक्ति का प्रकाशन है।

इसप्रकार के विचारों से अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा और अपनत्व करते हुए, ज्ञेयों के कर्तृत्व के प्रति परपने की श्रद्धा के कारण उत्साह शिथिल हो जाने से, ज्ञान की उर्ध्वता अर्थात् अधिकता बनी रहती है। ज्ञान श्रद्धान में वह मुख्य बना रहता है। साथ ही ज्ञेय एवं ज्ञेयाकारों के प्रति हीनता एवं उपेक्षा के भाव जाग्रत होने से वे अपने ज्ञान-श्रद्धान में गौण बने रहते हैं। यही संयोगों के प्रति उत्साह निवृत्ति का एवं आत्मा को प्राप्त करने का वास्तविक पुरुषार्थ है।

पर्यायगत भावों की भी उपरोक्त प्रकार की ही स्थिति है। सभी प्रकार की पर्यायें तो अनित्यस्वभावी ही हैं और मैं तो ज्ञायकभाव नित्यस्वभावी हूँ; पर्यायें तो अनेक अनेक प्रकार के रूप बदलती रहती हैं और मैं तो त्रिकाल एक ज्ञायकस्वभावी हूँ। पर्यायों के इन अनेक प्रकार के परिवर्तनों को भी सदैव जानते रहने के स्वभाव वाला मैं हूँ लेकिन इनको करने-धरने वाला तो मैं हूँ ही नहीं। पर्यायें मेरे से विपरीत स्वभावों वाली होने से मेरी कैसे हो सकती है ? इस अपेक्षा वे सब पर हैं, उनका अस्तित्व स्वतंत्र है। पर्यायें सभी क्रमवर्ती स्वभाव

वाली हैं और मैं तो अक्रम स्वभाव वाला नित्य स्थाई भाव हूँ। मैं स्वयं त्रिकाली सत् हूँ और ये पर्यायें तो एक समयवर्ती सत् हैं; उनकी सत्ता को असत् करने की मेरे में भी सामर्थ्य नहीं है और मेरे त्रिकाली सत् में उनका भी प्रवेश नहीं है। वे पर्यायें अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने जन्मकाल में उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं लेकिन मेरे त्रिकाली अस्तित्व में उनके परिवर्तन से कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। मैं तो इस अपेक्षा ज्ञानस्वभावी अपरिणामी-कूटस्थ बना रहता हूँ।

प्रवचनसार की गाथा 102 की टीका से भी इसका समर्थन प्राप्त होता है :–

"यहाँ, (विश्व में) वस्तु का जो जन्मक्षण है वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, (वह पृथक् ही होता है); जो स्थितिक्षण हो वह दोनों के अन्तराल में (उत्पादक्षण और नाशक्षण के बीच) दृढ़तया रहता है, इसलिये (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है, और जो नाशक्षण है वह,- वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाश को प्राप्त होती है इसलिये - जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है – इसप्रकार तर्कपूर्वक विचार करने पर उत्पादादि का क्षणभेद हृदयभूमि में उतरता है।"

इसप्रकार अपनी पर्याय के भी स्वतन्त्र परिणमन का विश्वास एवं आत्मदर्शन की रुचि तथा अपने ज्ञायक स्वभावी आत्मा के अकर्ता स्वभाव के निःशंक दृढ़तम निर्णय के बल से, पर्यायगत भावों के प्रति कर्तापने का अभिप्राय समाप्त होकर, उनके परिणमन के प्रति उत्साह टूट जाता है एवं उपेक्षावृत्ति होकर उपयोग सबकी ओर से सिमटकर एकमात्र ज्ञायक में तन्मय होने के लिये उत्साहवान हो जाता है। इसप्रकार के सहजरूप से उठने वाले विचारों के द्वारा एवं रुचि की

उग्रता के बल से आत्मार्थी समस्त पर की ओर से विरक्त होकर, ज्ञेय मात्र के प्रति उत्साह हीन हो जाता है उपयोग के लिये शरणभूत एक त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व ही रह जाता है। पर्याय का अपने स्वामी के साथ तन्मय होकर रहने का स्वभाव होने से एवं रुचि की उग्रता एवं ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षाभाव हो जाने से, सहज ही आत्मा के साथ सम्मिलन प्राप्त कर, निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द का पान कर तृप्त हो जाता है। ऐसे परिणाम ही प्रायोग्यलब्धि एवं करणलब्धि के परिणाम समझे जा सकते हैं।

विकल्पों एवं विचारों का अन्तर

विचार एवं विकल्प दोनों ही हैं तो मन जनित भाव ही। भावेन्द्रिय है। लेकिन अगर सूक्ष्मता से इनके अन्तर को समझेंगे तो हमको स्पष्ट समझ में आ जावेगा।

रुचिरहित के विकल्प तो प्रयास करने पर उठाने पर होते हैं लेकिन विचार तो बिना ही प्रयास के जिसप्रकार की रुचि होती है उसकी पूर्ति के संबंध में सहज ही उठते रहते हैं। ये दोंनो ही विकल्प कहे जाने पर भी इस प्रकरण में अभिप्राय अपेक्षा का अन्तर समझना चाहिये। रुचि से विपरीत विकल्प तो मात्र उतने ही काल रहेंगे, जब तक उस सम्बन्ध में प्रयास चलता रहेगा, प्रयत्न में ढीलापन आते ही वे समाप्त हो जाते हैं तथा विकल्प समाप्त होते ही, उनके कुछ भी संस्कार (प्रभाव) वृत्ति में नहीं रहते। स्पष्ट रूप से ऐसा लगता भी है कि विकल्पों के प्रयत्न के पूर्व जैसी परिणति थी वैसी ही अनुभव में आती है। आत्मोपलब्धि के सम्बन्ध में किये गये विकल्पों के समाप्त होने पर, उस सम्बन्धी संस्कार कुछ देर रहते हुये भी हमें अनुभव में नहीं आते। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसप्रकार के विकल्प आत्मोपलब्धि के लिये किन्चित् भी लाभकारक नहीं होते। फिर भी

ऐसा मान लेने से कि आत्मोपलब्धि का यही मार्ग है इनके करने से ही आत्मदर्शन होगा ? ऐसी मान्यता विपरीत होने से उससे तो मिथ्यात्व एवं कर्तृत्वबुद्धि का ही पोषण होगा।

विचारों की स्थिति ऐसी है कि वे तो, जिस कार्य के सम्पन्न करने की रुचि होती है, उस संबंध के विचार बिना प्रयास के स्वतः सहज ही उठते ही रहते हैं, रोकने पर भी रुकते नहीं और कार्य सम्पन्न होने पर स्वतः ही होना बंद हो जाता है, अज्ञानी को फिर अन्य विषय के विचार उठने लगते हैं। जैसे मदिरा पान के व्यसनी पुरुष को अथवा कामी पुरुष को तत्संबंधी विचार बिना प्रयास के भी होते ही रहते हैं, अन्य कार्यों में उसका मन ही नहीं लगता। साथ ही ऐसे विचार बारंबार आते रहने से तत्सम्बन्धी रुचि और भी प्रोत्साहित होती रहती है, रुचि को पोषण मिलता है और तत्-तत् विचारों का प्रभाव (संस्कार) भी उसकी परिणति पर पड़ता है; वे विचार तत्संबंधी कार्य की पूर्ति के लिये उसे प्रेरित करते रहते हैं।

इसीप्रकार पात्र आत्मार्थी जीव की आत्मानुभूति प्राप्त करने की रुचि तीव्र होने से तथा उसका मार्ग समझ में आजाने पर तथा उस मार्ग के प्रति निःशंक श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर तो आत्मानुभूति प्राप्त करने की रुचि और भी उग्र हो जाती है। फलस्वरूप ऐसे आत्मार्थी को विकल्प उठाने अथवा विचार करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वरन् उस मार्ग के द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने के संबंध में ही बारम्बार निरन्तर विचार चलते ही रहते हैं; खाते, पीते, चलते-फिरते, सोते, जागते ऐसे विचारों की ही बाहुल्यता बनी रहती है। ऐसे विचारों से रुचि को भी प्रोत्साहन मिलता रहता है। विशेष क्या ? अन्य प्रकार के विकल्प अथवा विचार आने पर उसको प्रसन्नता नहीं होती, वरन् उनसे व्यावृत्य होना चाहता है, प्रयास भी करता है। फलतः उसकी

अन्तर्परिणति एवं बाह्य परिणति भी अज्ञानी जीवों से विपरीत वर्तने लगती है, जीवन ही सहजरूप से परिवर्तित होकर वर्तने लगता है। ऐसी स्थिति उसकी सहज ही वर्तने लगती है; कृत्रिमतापूर्वक ऐसी परिणति करने का किञ्चित् मात्र भी उसका भाव नहीं होता। अज्ञान दशा में जिन क्रियाओं, वार्तालाप में तथा जिसप्रकार के साहित्य पढ़ने आदि में उसे रस (मजा) आता था अब वे नीरस लगने लगते हैं आदि-आदि। ऐसे जीव को ज्ञानी तो सच्चा आत्मार्थी मानकर तथा आत्मानुभूति के पूर्व में होने वाली वैराग्य परिणति मानकर, उसको प्रोत्साहित करते हैं अर्थात् आत्मानुभूति के मार्ग में कोई बाधा आती हो तो उसका निवारण करके मार्ग सरल बनाने में सहयोग करते हैं ।

वास्तविक स्थिति ऐसी है कि ज्ञानी और अज्ञानी की विचार धारा और वर्तन में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर हो जाता है। उसको तो बिना प्रयास के भी आत्मार्थ पोषण के कार्यों की ओर रुचि रहती है जैसे देवपूजा, गुरुओं का समागम, साधर्मी जनों की संगति, स्वाध्याय एवं अपनी वृत्ति को अपने में संयमित रखने आदि कार्यों की ओर रुचि बनी रहती है तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों की तरफ सहज रूप से आसक्ति अल्प हो जाती है। इन्द्रिय विषयों में गृद्धता तो विसर्जित जैसी ही हो जाती है आदि-आदि। लौकिक जीवन भी परिवर्तित हो जाता है। अन्याय रूप प्रवृत्ति एवं अभक्ष्य भक्षण के भाव की वृत्ति ही नहीं उठती। इसी को आगमिक भाषा में व्यवहार चारित्र एवं ज्ञान और वैराग्य परिणति की आंशिक उत्पत्ति कहा जा सकता है अर्थात् मिथ्यात्व की मंदता के साथ-साथ अनन्तानुबंधी की आंशिक क्षीणता होना कहा जाना चाहिये; यही बढ़ते-बढ़ते मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी का अभावकर आत्मानुभूति प्राप्त कराकर आत्मदर्शन प्राप्त करा देता है।

संक्षेप में समझा जावे तो विकल्पों में तो कर्तृत्त्व बुद्धि का पृष्ट

बल मुख्य रहता है और सहज उठनेवाले विचारों-चिंतन-मनन में रुचि का पृष्टबल मुख्य रहता है।

अनन्त गुणों की अभेदता –

अनन्त गुणों का कार्य, अभेद कैसे प्रगट होगा ?

प्रश्न :– मैं आत्मा हूँ, मेरे में अनन्त गुण हैं, सभी गुणों की पर्यायें अर्थात् कार्य, भिन्न-भिन्न होते हुये भी ज्ञान में भिन्न ज्ञात नहीं होगें, तो इन सबका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान :– ज्ञान ने जाना उसी से सिद्ध होता है। विचार करो कि ज्ञान रूपी कार्य का करने वाला कौन था ? तो उत्तर आवेगा कि ज्ञान का करने वाला तो ज्ञान का स्वामी ऐसा आत्मा ही था। उक्त दृष्टान्त से यह समझ में आ जाना चाहिए कि सभी गुणों का अस्तित्व ज्ञान के जानने से ही सिद्ध होता है। अन्य सभी द्रव्यों के कार्यों को जानने वाला भी मेरा ज्ञान नहीं है और ज्ञान का स्वामी भी एक मेरा जीव (आत्मा) ही है। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा का एवं उसके गुणों का अस्तित्व भी एकमात्र मेरे ज्ञान के प्रकटीकरण से ही होता है। जैसे शरीरधारी आत्मा में अमूर्त आत्मा का अस्तित्व भी एकमात्र ज्ञान की प्रगटता से ही हो पाता है। उपरोक्त युक्तियों के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के अनन्त गुणों के कार्य भी ज्ञान के माध्यम से ही प्रगट होते हैं। अनुभव में भी अभेदरूप होकर ही आते हैं। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि आत्मा के सब गुणों का प्रतिनिधित्व अकेला ज्ञान ही करता है। आत्मा में बसने वाले ज्ञान के अतिरिक्त अन्य सभी गुणों में ज्ञान नहीं है, वे सब तो अपने आपको भी नहीं जानते और न अन्य गुणों को ही जानते हैं। सब गुणों में एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जो अपने कार्य को भी जानता है और अन्य गुणों के कार्यों को भी जानता है। क्योंकि वह स्व-पर-प्रकाशक है। इस प्रकरण में

आत्मद्रव्य से इतर अन्य द्रव्यों की चर्चा मुख्य रूप से नहीं होगी, वे तो पर-प्रकाशक ज्ञान के विषय होने से, उनको गौणरूप समझकर फिर भी व्यवहार से कथन किया जाता है। समयसार परिशिष्ट के पृष्ठ – 669 के निम्न कथन से भी इसका समर्थन प्राप्त होता है :–

"परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणमित जो एक जानन क्रिया है उस जानन क्रिया मात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिये) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जाने वाली–) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिये आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भाव में–ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।)"

उपरोक्त विषय को स्पष्ट करते हुए पू. श्री कानजी स्वामी ने प्रवचन रत्नाकर गुजराती भाग 11 पृष्ठ 7 से 9 पर कहा है :–

"अहाहा ! आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त गुण और उसकी समय-समय की अनन्त पर्यायें परस्पर भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं है। एक गुण में दूसरे गुण का रूप भले ही हो, लेकिन एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। उसीप्रकार एक गुण की अवस्था-पर्याय दूसरे गुण के कारण हो, ऐसा भी नहीं है। यह अन्तर की बात है। अहाहा ! हर एक गुण की हर एक पर्याय में छह कारकरूप होकर परिणमन करने का स्वयं का स्वतंत्र वीर्य (पुरुषार्थ) है। प्रत्येक पर्याय स्वयं के सामर्थ्य से ही स्वयं

की रचना करती है। ऐसा ही पर्याय धर्म है। अहाहा ! पर्याय का कारण पर द्रव्य तो नहीं, स्व द्रव्य एवं गुण भी नहीं। पर्याय स्वयं ही स्वयं का कारण है।"

"एकसमय में अनंतगुण की अनंत पर्यायें होने पर भी, ये समस्त एक ज्ञप्ति मात्र स्वभाव में समा जाती हैं। ये अनंत पर्यायें ज्ञेयपने होने पर भी ये सब एक ज्ञप्ति मात्रभाव में अभेदरूप (विद्यमान) रहती हैं, भिन्न नहीं हैं। अहाहा ! जानने की एक पर्याय में सभी गुण और पर्यायों का ज्ञान अभेदपने समा जाता है (विद्यमान रहता है) और उसरूप स्वयं ही हो जाने से आत्मा को ज्ञानमात्रपना है।"

"अहाहा ! जानन .... जानन ..... जानन ऐसा जो ज्ञान लक्षण, उसके द्वारा अंतर्मुख होकर जब लक्ष्य (चैतन्य महाप्रभु) को पकड़ा कि सम्यग्ज्ञान की जो निर्मल परिणति प्रगट हुई उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि अनंत गुणों की पर्यायें अंतःपातिनी अर्थात् अंदर समा जाती हैं। अहाहा ! प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप स्वद्रव्य को पकड़कर जहां ज्ञान प्रगट हुआ तो उसमें स्वद्रव्य (अनंत गुण का पिंड) और ज्ञान क्रिया का– जिसमें अनंत गुणों की निर्मल पर्यायें समा जाती हैं – अन्तर्निमग्न हो जाती हैं, उसको निर्विकल्प प्रमाण ज्ञान एक साथ प्रगट हो गया। इसलिये यहां कहा है कि – ज्ञान मात्र भाव के अंदर अनंत शक्तियां उछलती हैं।"

"यहां तो द्रव्य, गुण तथा उनकी निर्मल परिणति – इन तीनों को अभेद करके उस ही को आत्मा माना है, विकार को तो ज्ञान लक्षण के कारण आत्मा से भिन्न ही कर दिया है, भिन्न ही माना है।"

इसप्रकार ज्ञान गुण ही स्व-पर-प्रकाशक होने से अनन्त गुणों के कार्यों को जान लेता है इसलिये एकमात्र उस ही में प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है।

पूरी चेतना अर्थात् चेतना स्वरूपी आत्मा के कार्यों का प्रकटीकरण तो चैतन्य गुण अर्थात् स्वप्रकाशक दर्शन ज्ञानगुण की पर्याय द्वारा ही होता है। दर्शनगुण, अपने विषय को बिना भेद-प्रभेद करे सामान्य रूप जानता है और ज्ञान गुण उसी विषय को विशेषतापूर्वक भेद-प्रभेद करके जानता है। इसप्रकार दोनों गुणों के द्वारा समग्र द्रव्य का ज्ञान होता है। हर एक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक ही होती है अतः वस्तु को जानने वाली शक्ति भी सामान्यांश एवं विशेषांश दोनों को जानने वाली होनी ही चाहिये, ऐसी सहज स्वाभाविक वस्तुव्यवस्था है। पञ्चास्तिकाय संग्रह की गाथा 40 की टीका में कहा है :–

"आत्मा का चैतन्य–अनुविधायी (अर्थात् चैतन्य का अनुसरण करने वाला) परिणाम सो उपयोग है। वह भी दो प्रकार का है – ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। वहाँ, विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है (अर्थात् विशेष जिसमें प्रतिभासित हो वह ज्ञान है और सामान्य जिसमें प्रतिभासित हो वह दर्शन है।) और उपयोग सर्वदा जीव से अपृथग्भूत ही है, क्योंकि एक अस्तित्व से रचित है।"

उपरोक्त गाथा के अनुसार सामान्यांश एवं विशेषांश दोनों को जानने की क्रिया को आगम में उपयोग कहा है। उक्त उपयोग के स्व सन्मुखतापूर्वक कार्यशील होने पर, स्व सम्बन्धी सामान्य विशेषात्मक जानकारी होती है और वही उपयोग पर सन्मुखतापूर्वक कार्यशील होने पर, पर सम्बन्धी जानकारी होती है। छद्मस्थ का उपयोग, स्व एवं पर दोनों को क्रमशः ही जान पाता है। इसलिये एक ओर का ही कार्य होता हुआ मालूम पड़ता है, अनुभव में आता है।

इसप्रकार आत्मा के कार्य (परिणमन-पर्यायों) को जानना एवं प्रकाशित करने का कार्य एक उपयोग के माध्यम से ही प्रकट होता है।

इसलिये द्रव्य के परिणमन के नाम से उपयोग को भी उसी नाम से ही कह दिया जाता है; जैसे शुद्ध-उपयोग, अशुद्ध-उपयोग, शुभ-उपयोग, अशुभ-उपयोग, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग आदि-आदि नामों से जिनवाणी में भी कहा गया है।

प्रवचनसार की गाथा 9 की टीका में भी कहा है :–

"जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभाव से परिणमित होता है तब जवा कुसुम या तमाल पुष्प के (लाल या काले) रंगरूप परिणमित स्फटिक की भाँति, परिणामस्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुभ या अशुभ है); और जब वह शुद्ध अरागभाव से परिणमित होता है तब शुद्ध अरागपरिणत (रंग रहित) स्फटिक की भाँति, परिणामस्वभाव होने से शुद्ध होता है। (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध है)। इसप्रकार जीव का शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध हुआ।"

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि आत्मा की जब पर की अर्थात् परज्ञेयों के जानने की रुचि टूट जाती है और उपयोग परलक्ष्य छोड़कर स्वरूपग्राही होता है तब उसको अभेद अखण्ड निज परमात्मा दिखाई देता है। जो इसके स्वलक्ष्यी ज्ञान में ज्ञेय बनता है वह अभेद-अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य होता है। क्योंकि पर्याय तो द्रव्य की ही होती है, एक-एक गुण की एक-एक पर्याय अलग-अलग तो होती नहीं; अवयवी ऐसे द्रव्य ने जब परिणमन किया तो एक परिणमन (पर्याय) में अनन्त गुणों का परिणमन हो जाता है। इसप्रकार पूरे द्रव्य की अभेद पर्याय होती है। जब उपयोग द्रव्य को ज्ञेय बनाता है, तब उस समय के ज्ञान में, पूरा द्रव्य ज्ञेय बनने से उसमें अनन्त गुण एवं उन अनन्त गुणों के तत्समय के परिणमन (पर्याय) एक साथ ही समग्ररूप से ज्ञात हो जाते हैं। कार्य तो सब गुणों का अपने-अपने स्वभाव के अनुसार तत्-तत् गुण की

तत्समय परिणमन की योग्यतानुसार होता है। ज्ञान का अथवा उपयोग का उसमें कुछ भी योगदान नहीं है। सब गुण एवं उनकी पर्यायें स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्र रूप से परिणमती हैं। पूज्य श्री कानजीस्वामी ने समयसार की 47 शक्तियों के प्रकरण में अनन्त धर्मत्वशक्ति के विवेचन में निम्नप्रकार स्पष्ट किया है, जो प्रवचन रत्नाकर गुजराती के भाग-11 के पृष्ठ 132 से 139 तक में निम्नप्रकार से आया है :–

"यहाँ अनन्त धर्मत्व शब्द में, धर्म शब्द से गुण स्वभाव की बात है, नित्य-अनित्यादि अपेक्षित धर्मों की बात नहीं है। यहाँ धर्म शब्द से त्रिकाली गुण-स्वभाव-शक्ति की बात है।"

"अहा ! अनन्त धर्मत्वमय भगवान आत्मा है। कैसे हैं वे धर्म ? तो कहते हैं, विलक्षण हैं, अर्थात् परस्पर भिन्न लक्षण वाले हैं। आत्मा के अनन्त स्वभाव हैं वो परस्पर भिन्न लक्षण वाले हैं। एक गुण से दूसरे गुण विलक्षण हैं। ज्ञान का लक्षण जानना, दर्शन का लक्षण देखना, वीर्य का लक्षण स्वरूप की रचना करना, आनन्द का लक्षण परम आनन्द का अनुभव होना, अस्तित्व का लक्षण त्रिकाल सत्पने रहना, इसप्रकार प्रत्येक अनन्त शक्तियाँ विलक्षण स्वभाव वाली हैं। कोई गुण का लक्षण कोई दूसरे गुण में जाता नहीं, मिल जाता नहीं; जो मिल जावे तो अनन्त स्वभाव-गुणसिद्ध नहीं होंगे, ऐसे अनन्त स्वभावों से भासित ऐसा एक भाव जिस का लक्षण है ऐसी अनन्त धर्मत्वशक्ति जीव में है। अनन्त धर्म विलक्षण होते हुये भी एक भावपने रहना ऐसा भगवान आत्मा का अनन्त धर्मत्वस्वभाव है।"

"अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा अनंतधर्मों से अभेद एक चिन्मात्र वस्तु आत्मा का अनुभव अवश्य होता है और उस अनुभव में सभी धर्म समा जाते हैं जिसप्रकार दवाई की एक गोली में अनेक प्रकार के तत्त्वों

(औषधियों) का स्वाद (प्रभाव) एकसाथ होता है; उसीप्रकार आत्मवस्तु के अनुभव में समझना।"

"एक बार कहा था कि एक गुण में से पर्याय उठती नहीं हैं; लेकिन सम्पूर्ण द्रव्य है, उसका स्वीकार होने पर (अहंपने स्वीकार होने पर) पूरे द्रव्य में से परिणति (पर्याय) उठती है। तत्वार्थसूत्र में भी कहा है "गुण पर्ययवद्द्रव्यं"। अन्दर में गुण की परिणति भिन्न होती है और द्रव्य की परिणति भिन्न होती है, ऐसा नहीं है। स्वयं की अनेक विशेषताओं रूप द्रव्य ही परिणम जाता है। इसप्रकार बताकर त्रिकाली अभिन्न द्रव्य की दृष्टि (श्रद्धा) करने का जिनवाणी में कहा है।"

"अहा! ऐसी आश्चर्यकारी अद्भुत वस्तु आत्मा है। विलक्षणता होने पर भी एकरूपता और एकरूपता होने पर भी विलक्षणता। विलक्षणता होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर भी, उसी समय सभी गुण क्षायिक भाव से प्रगट नहीं हो जाते, और वस्तुपने एकरूपता होने से, वस्तु के आश्रयपूर्वक परिणमन होने पर, सब गुण आंशिक निर्मल प्रगट हो जाते हैं–उछलते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर भले ही केवलज्ञान नहीं हो, लेकिन सम्यग्ज्ञान तो अवश्य होता ही है। इसप्रकार सब गुणों का एक अंश तो प्रगट हो ही जाता है। अहा! ऐसे अनन्त धर्म स्वरूप निज आत्मा को पहिचानकर उसका अनुभव करना, उसके अन्तर सन्मुख होकर परिणमना वही मोक्षमार्ग है, वही मोक्ष का कारण है।"

"स्वाभिमुख परिणमन होने पर, जीव के अनन्त धर्मत्व स्वभाव का सबके साथ ही निर्मल परिणमन होता है और तब अनन्त धर्मों का सम्मिलित ही परिणमन होता है। सभी गुण एक साथ ही परिणमते हैं। पर्याय में एकसाथ ही परिणमित होते हैं और उनमें राग का विकार का अभाव है। यह अनेकान्त है। व्यवहार का अभाव और निश्चय का

सद्भाव–इसका नाम सम्यक् अनेकान्त है।"

इसप्रकार पू. श्री कानजीस्वामी के स्पष्टीकरण से यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के अनन्त गुणों के अनन्त प्रकार के परिणमन एक साथ एक ही समय आत्मद्रव्य में होने से सबका मिलकर–सम्मिलित होकर एक ही प्रकार का परिणमन होता है। अगर ऐसा न हो तो स्वाद एक नहीं आ सकेगा, अनंत में एक में नहीं होने से निर्विकल्प अनुभव भी नहीं हो सकेगा तो स्व संवेदन भी नहीं हो सकेगा। अतः स्पष्ट है कि अनन्त गुणों का कार्य अभेदरूप से एकरूप ही प्रगट होता है और स्वाद भी अभेद एक ही आता है।

अनन्त गुणों की अभेदता किस प्रकार ?

परिणमन तो पूरे द्रव्य का ही होता है। परिणमन और पर्याय दोनों एकार्थवाची हैं। इससे स्पष्ट है कि आत्मद्रव्य अभेद अखण्ड रूप रहते हुये ही परिणमता है। अतः अभेद-अखण्ड द्रव्य के अभेद परिणमन को देखें तो उसमें अनेकता ही नहीं है। लेकिन द्रव्य तो अनन्त गुणों के समूह (समुदाय) रूप ही है। इसप्रकार अभेद द्रव्य के अभेद परिणमन में भी अनन्त गुणों का परिणमन हो ही जाता है। इसप्रकार आत्मा के अभेद परिणमन में भी अनन्त गुणों का रूप रहना, द्रव्य की सहज स्वाभाविक स्थिति है। आत्मा भी एक सत्तावान पदार्थ होने से इसके अभेद परिणमन में ही अनन्त गुणों का रूप रहता है। रूप अर्थात् रस-स्वाद-स्वभाव सम्मिलित रूप से रहकर भी परिणमते रहना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। आत्मा अभेद अखण्ड रहते हुये ही एक सत्तावान पदार्थ है; अतः उसके अनन्त गुण भी स्वयं सत्तावान हो गये अतः उन सबकी भी सत्ता निर्बाध रूप से रहनी ही चाहिये। इसलिये कोई भी गुण किसी अन्य गुण में मिलकर अपनी सत्ता अर्थात् सामर्थ्य छोड़कर एकमेक नहीं हो जाते। तत्वार्थ सूत्र के पांचवें अध्याय में कहा

भी है 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' गुण में गुण नहीं बसते, अतः अपनी सत्ता एकसाथ अक्षुण्ण बनाये रखते हुये भी, द्रव्य में एकसाथ अभेद-अखण्ड रूप से मात्र रहते ही नहीं; वरन सब गुण ही अपना अपना कार्य (पर्याय) सम्मिलित होकर करते रहते हैं। इसतरह के स्वतंत्र परिणमन का स्वाद रस भी एक होकर अभेद के रूप में ही प्रगट होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के अनंत गुण स्वतंत्र रूप से, एक ही द्रव्य में अभेद अखण्ड-रूप से रहते हुये भी अपने-अपने विलक्षण प्रकार के कार्यों व स्वभावों को, एक दूसरे को बाधा पहुंचाये बिना तथा हस्तक्षेप किये बिना सम्मिलित होकर अनवरत रूप से परिणमते रहते हैं। इसप्रकार के कार्य करने में सब गुणों के कार्यों,स्वभावों,स्वादों व रसों की एकरूपता हो जाने की प्रणाली को ही जिनवाणी में, 'एक गुण का रूप अन्य गुणों में जाना' कहकर समझाया गया है।

पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाले, जो पण्डित टोडरमलजी के भी पूर्ववर्ती विद्वान थे, उनकी आत्मावलोकन कृति के अध्ययन की प्रेरणा पंडितजी साहब ने अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में दी है, अध्यात्म के गूढ रहस्यों को उन्होंने सूक्ष्मता से खोला है और डॉ॰ देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री नीमच के अनुसार जिनने 15 रचनाऐं की थीं; उनकी रचना चिद्विलास के पृष्ठ 101 पर उपरोक्त विषय का निम्नप्रकार स्पष्टीकरण आया है :–

"एक गुण में सब गुणों का रूप होता है। वस्तु में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण में सब गुणों का रूप होता है, क्योंकि सत्तागुण है तो सब गुण हैं। अतः सत्ता के द्वारा सब गुणों की सिद्धि होती है। सूक्ष्मगुण है तो सब गुण सूक्ष्म हैं। वस्तुत्वगुण है तो सब गुण सामान्य विशेषरूप से कार्य करते हैं। द्रव्यत्वगुण है तो वह द्रव्य को द्रवित करता है,

व्याप्त करता है। अगुरुलघुत्वगुण है तो सब गुण अगुरुलघु हैं । अबाधित गुण है तो सब गुण अबाधित हैं । अमूर्तिक गुण है तो सब गुण अमूर्तिक हैं।

इसप्रकार प्रत्येक गुण सब गुणों में है, और सबकी सिद्धि का कारण है। प्रत्येक गुण में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सिद्ध करना चाहिए। जैसे एक ज्ञानगुण है, उसका ज्ञानरूप 'द्रव्य' है, उसका लक्षण ज्ञान 'गुण' है। उसकी परिणति जाननेरूप 'पर्याय' है और आकृति 'व्यञ्जनपर्याय' है।

शंका :– यदि परिणति पर्याय है और ज्ञान, पर्याय के द्वारा ज्ञेय में आया है; फिर भी परिणति तो ज्ञेयों में नहीं आई तो ज्ञान पर्याय के द्वारा ज्ञेयों में कैसे आया ?

समाधान :– ज्ञान की परिणति ज्ञेयों में अभेद की अपेक्षा या तादात्म्य की अपेक्षा नहीं आयी। पर्याय की शक्ति ज्ञेयों में उपचार परिणति से परिणमी है अर्थात् आयी है। उपचार से ही उसे ज्ञेयाकार कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय वस्तु के हैं। जो वस्तु का सत् है, वही ज्ञान का सत् है। क्योंकि जो असंख्यात प्रदेश वस्तु के होते हैं, वे ही ज्ञान के होते हैं, इसलिए अभेद सत्ता की अपेक्षा अभेद गुण पर्याय की सिद्धि होती है। भेद की अपेक्षा ज्ञान द्रव्य, लक्षण गुण और परिणति पर्याय –ऐसे भेद सिद्ध होते हैं। उपचार से समस्त ज्ञेय के द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञान में आये हैं।"

इसी विषय को और भी अधिक सूक्ष्मता पूर्वक समझना हो तो पाठकगण उक्त विद्वान की रचना **'सवैया टीका'** तथा **'ज्ञानदर्पण'** जो अध्यात्म पंचसंग्रह नाम के ग्रन्थ में प्रकाशित हैं, उक्त ग्रन्थ से अध्ययन करें।

इसी विषय को पू॰ श्री कानजीस्वामी ने तो अनेक बार अनेक

प्रवचनों में खासकर 47 शक्तियों के प्रवचनों में बहुत गंभीरता और तर्क पूर्ण शैली में विवेचन किया है।

इसप्रकार अनन्त गुणों के कार्य एवं स्वाद अभेद होकर सम्मिलित रूप से ही निरंतर परिणमते हैं, अलग-अलग परिणमन होता ही नहीं है, तब उनमें भेद मानना तथा खोजना तो एक निरर्थक प्रयास है, कल्पना मात्र है। मेरा त्रिकाली ज्ञायकभाव अर्थात् मेरा द्रव्य ही, अनंतगुणों का पिंडरूप एक है और सिद्ध भगवान का आत्मा भी अभेद होते हुए सभी गुणों के अभेद परिणमन करते हुए विद्यमान है, इस प्रकार उनमें और मेरे में समानता है। मेरा भी अभेद परिणमन होता है, वही सिद्ध भगवान का परिणमन है। भेद के विकल्प तो मेरे हैं ही नहीं; पर हैं, परज्ञेय हैं। न तो मैं उनका स्वामी हूँ और न कर्त्ता ही हूँ। मैं तो अभेद-अखण्ड-एक त्रिकालीज्ञायक अकर्त्ता हूँ। ऐसी श्रद्धा होना ही वास्तविक मोक्षमार्ग है।

अनन्त गुणों की भेदरूप चर्चा क्यों की गई ?

आत्मद्रव्य की सामर्थ्य को समझने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं होने से गुणों के सामर्थ्य के द्वारा आत्मा की सामर्थ्य को समझाया गया है। आत्मा तो अनंत गुणों का समुदायरूप अभेद एक द्रव्य है। अतः आत्मा में बसने वाले अनंत गुणों की भिन्न सामर्थ्यों का समुदाय रूप अकेला वह आत्मद्रव्य ही तो सिद्ध भगवान बनता है। तात्पर्य यह है कि अनन्तानन्त सामर्थ्य का धारी जो आत्मद्रव्य है, वही तो मैं हूँ।

आत्मा में रहने वाले हर एक गुण के विकास होने की मर्यादा भी असीमित होती है । जब आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है तो उसके सभी गुणों के स्वभाव – सामर्थ्य पूर्णतया विकसित हो जाते हैं । स्वभाव सामर्थ्य के विकास की मर्यादा होती नहीं । जैसे एक पुद्गल परमाणु जब स्वाभाविक स्थिति (परमाणुरूप) में हो तो,

एक समय में 14 राजू गमन करने की शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। इसीप्रकार आकाश द्रव्य जो कि हमेशा निर्मल ही रहता है, उसमें अशुद्धता होती ही नहीं, तो उसमें अवकाश देने की इतनी सामर्थ्य प्रगट है कि वह अपने एक प्रदेश में ही अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल तथा असंख्यात प्रदेशी धर्म, अधर्म, द्रव्य आकाश तथा असंख्यात कालाणु सबको अवकाश देने में समर्थ है। इसीप्रकार जीव द्रव्य के सभी गुणों के संबंध में भी समझ लेना चाहिये। जैसे आत्मा के अकेले ज्ञान की पूर्ण विकसित सामर्थ्य पर ही विचार करें तो वह सामर्थ्य भी इतनी विकसित हो जाती है कि मात्र एक समय में ही, जो कुछ भी स्व अथवा पर, जानने योग्य ज्ञेय पदार्थ हैं, उनके अनन्त गुण व उनकी भूत-वर्तमान-भावी पर्यायों सहित सबका, एकसाथ ही जानना होता रहता है । इसीप्रकार प्रमेयत्व गुण की इतनी विशाल सामर्थ्य है कि एक ही समय में चाहे जितने भी जानने वाले जीव उसको जानना चाहें सब के विषय अर्थात् ज्ञेय बनने की सामर्थ्य थी वह प्रगट रहती है। अनंत केवलियों का केवलज्ञान भी हर समय एक समयवर्ती प्रमेय के कारण ज्ञेय बन सकेगा। इसीप्रकार आत्मा के वीर्य गुण, श्रद्धा, चारित्र आदि अनंत गुणों की सामर्थ्य के धरने वाले हर एक आत्मा हैं; उन्हीं अनंत गुणों के सामर्थ्य का स्वामी मेरा भी (त्रिकाली ज्ञायक अकर्ता स्वभावी) आत्मद्रव्य है।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रकार से गुण भेदों के माध्यम से हर एक गुणों के स्वभाव एवं सामर्थ्य को समझकर, उन सब स्वभाव एवं सामर्थ्य का स्वामी ऐसा महान से भी महान आत्मा एक सिद्ध भगवान का आत्मा है; वही की वही तथा वैसी की वैसी उतनी की उतनी सामर्थ्य मेरे आत्मा की वर्तमान में है। जगत के अन्य जितने भी पदार्थ हैं (ज्ञेय हैं) वे सब मेरे आत्मा की महिमा के सामने अत्यन्त तुच्छ भासने

लगें, ऐसी महान कल्याणकारी निःशंक दृढ श्रद्धा मुझे मेरे अंतर में उत्पन्न करना चाहिये। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न करना ही इन गुणभेदों को समझने का उद्देश्य है। गुणभेदों को समझकर गुणों की महिमा करते रहना, उनको समझाने का उद्देश्य नहीं है। उससे तो मात्र शुभ राग ही उत्पन्न होकर रह जावेगा।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने समयसार के परिशिष्ट में उपाय-उपेय (साधन-साध्य) अधिकार प्रारंभ करने से पूर्व, आत्मा में बसने वाली अनंत शक्तियों (गुणों) का विवेचन किया है और पू.श्री कानजी स्वामी ने उन शक्तियों पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया है जो कि प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) के भाग 11 के द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। विस्तृत जानकारी हेतु पाठकगण उपरोक्त ग्रंथों का अध्ययन करें।

ज्ञेयों का ज्ञान भी ज्ञान पर्याय ही है।

उपर्युक्त विषय पर विस्तार से चर्चा तो पूर्व प्रकरण "अनंत गुणों का कार्य, अभेद-एक होकर प्रगट कैसे होगा?" में कर चुके हैं। लेकिन यहाँ गुण भेदों पर से वृत्ति को समेटकर आत्मसन्मुख करने के पुरुषार्थ को प्रोत्साहित करने के दृष्टिकोण से पुनः चर्चा करेंगे।

ज्ञान तो आत्मा की एक असाधारण शक्ति है। इस शक्ति के निर्मल परिणमन में यह सामर्थ्य है कि एक साथ, एक ही समय, स्व को भेद-प्रभेदों सहित जाने तथा अपने से इतर पर को भी भेद-प्रभेदों सहित जान लेवे, ऐसी सामर्थ्य एक मात्र ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य किसी भी गुण में नहीं है।

यह ज्ञान गुण तो मात्र जानने का कार्य करता है, लेकिन ज्ञान के समक्ष जानने के विषय दो रहते हैं – स्व एवं पर। वास्तव में तो इन दोनों में से स्व को एकत्वपूर्वक जानना तथा पर को परत्व पूर्वक

जानना, ज्ञान का स्वभाव है। कोई भी द्रव्य अपने स्वचतुष्टय से बाहर जाता ही नहीं और जा भी नहीं सकता; तब फिर ज्ञान भी अपने स्वचतुष्टय से बाहर कैसे जावेगा ? इसलिए पर के जानने का कार्य भी अपने स्वक्षेत्र में रहकर ही, स्व की पर्याय में ही करेगा और करता भी है। पूर्व प्रकरणों में यह विषय विस्तार पूर्वक चर्चित होकर निर्णय हो चुका है कि पर संबंधी ज्ञेयाकार जो अपनी ज्ञान की पर्याय में बनते हैं, आत्मा तो उनको ही जानता है; न तो ज्ञान पर के पास जाता है और न पर ही अपना क्षेत्र छोड़कर ज्ञान के पास आता है। यह तो ज्ञान पर्याय की ही एक ऐसी अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञेय का सन्निकर्ष हुये बिना भी और अलग रहते हुये भी, उसकी पर्याय में पर्याय की स्वयं की योग्यता से ज्ञेय का आकार बन जाता है। वे ज्ञेय स्व भी होते हैं और पर भी होते हैं। जानने की प्रक्रिया तो दोनों की समान है। लेकिन छद्मस्थ के ज्ञान की इतनी निर्बलता है कि दोनों के ज्ञेयाकार उपस्थित रहते हुये भी, उन दोनों को एक साथ नहीं जान पाता। जिस ओर की मुख्यता होती है, उस ही का जानना होता हुआ ज्ञात होने लगता है; दूसरे ज्ञेय के ज्ञेयाकार उपस्थित रहते हुये भी, ज्ञान में प्रगट होते हुये ज्ञात नहीं होता इसका कारण ज्ञान के जानने की प्रक्रिया में कोई कमी नहीं है वरन् ज्ञान के प्रगटीकरण की सामर्थ्य की निर्बलता ही एक मात्र कारण है। जिनवाणी में निमित्त की प्रधानता से मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधिज्ञानावरणी आदि नामों से उस निर्बलता का परिचय कराया गया है।

उपर्युक्त चर्चा का तात्पर्य यह है कि यह तो अमोघ सिद्धान्त है कि ज्ञान का स्वभाव तो स्व एवं पर दोनों को एक ही साथ जान लेना है। लेकिन जानना स्वक्षेत्र में ही हुआ है। अतः आत्मा ने तो अपनी ज्ञान पर्याय को, जिसमें स्वसंबंधी एवं परसंबंधी ज्ञेयाकार विद्यमान हैं,

मात्र उस पर्याय को ही जाना है। जानने की प्रक्रिया में तो स्व एवं पर का कोई वर्गीकरण है ही नहीं। उन ज्ञेयाकारों का विश्लेषण करते हैं तो अपनी समझ को स्पष्ट करने के लिये तथा उनमें हेय-उपादेय बुद्धि प्रगट करने के लिये हम वर्गीकरण कर लेते हैं और उन ज्ञेयाकारों में से स्वसम्बन्धी ज्ञेयाकारों को स्व को जानना कह देते हैं और परसंबंधी ज्ञेयाकारों को पर का जानना कहने लगते हैं। स्व एवं पर दोनों के ज्ञेयाकार बनने की प्रक्रिया में तो कोई अंतर नहीं है। ध्यान रहे उपरोक्त प्रकार का वर्गीकरण ज्ञान में नहीं होते हुए भी तथा स्व के समान ही परसम्बन्धी आकार ज्ञान में विद्यमान रहते हुए भी, हमारी एकत्वबुद्धि-स्वपना स्व की ओर कराने के उद्देश्य सिद्ध करने के लिये है। पर को ज्ञान में से निकालने के लिये अथवा पर की ओर से उपयोग को अपनी ओर पलटा-पलटी करने के विकल्प करते रहने के लिये नहीं हैं।

निष्कर्ष यह है कि वास्तव में तो आत्मा तो अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता है, लेकिन वे ज्ञेयाकार किसके हैं, उसका ज्ञान, ज्ञेय का उपचार किये बिना संभव नहीं है और उन ज्ञेयाकारों के इस प्रकार का वर्गीकरण करे बिना, पर संबंधी ज्ञेयाकारों के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न करना भी संभव नहीं है। उसके अभाव में हमारी वृत्ति अकेले स्व में एकाग्र ही कैसे होगी? और उसके बिना हमारा आत्मा निर्विकल्प आत्मानुभूति कैसे प्राप्त कर सकेगा, अतः जिनवाणी की यह प्रणाली अत्यन्त प्रयोजनभूत मानकर, उसका अनुसरण करना योग्य है।

उपरोक्त चर्चा का उद्देश्य यह है कि आत्मा को, अपने से अतिरिक्त अनन्ते जीवमात्र जिनमें अनंत केवली भगवान भी सम्मिलित हैं एवं पुद्गल मात्र, जिसमें कर्म-नोकर्म मेरा शरीर आदि सभी सम्मिलित हैं वे समस्त तथा बाकी के चार द्रव्य अर्थात् मेरे जीव द्रव्य के अतिरिक्त

समस्त लोकालोक तो मेरे से भिन्न हैं ही, अतः उनके संबंधित जो भी ज्ञेयाकार मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं वे भी मेरे कैसे हो सकते हैं ? उन सबको भी पर मान कर, उपेक्षा कर अकेले स्वज्ञेय में ही एकत्व–अपनत्व प्रगट करना चाहिए।

लेकिन परसम्बन्धी ज्ञेयाकार बनना भी अनिवार्य है । क्योंकि ज्ञान का स्वभाव तो सबका ज्ञान करने का है एवं अन्य सभी द्रव्यों में प्रमेयत्वगुण विद्यमान है, अतः उनका आकार हर एक के ज्ञान में बनना भी अनिवार्य है; ऐसी स्थिति में, मैं न तो उन ज्ञेयों का अभाव कर सकता हूँ और न ज्ञेयाकार बनना रोक सकता हूँ। लेकिन दोनों ज्ञेयों अथवा ज्ञेयाकारों में से किसी भी एक को स्वपने जानूं और दूसरे को परपने जानकर उसके प्रति उपेक्षित बुद्धि उत्पन्न करूं और उनको जानने के प्रति उत्साह समाप्त हो जावे ऐसा कर सकता हूँ; ऐसा करने की सामर्थ्य तो मेरे अंदर विद्यमान है। लेकिन छद्मस्थ दशा में, जानने की निर्बलता के कारण मैं तो मात्र एक ओर ही अपने ज्ञान को केन्द्रित कर सकता हूँ। अतः परसम्बन्धी ज्ञेयाकारों के सन्मुख वर्तने के उत्साह का तो मैं अभाव कर ही सकता हूँ। अतः मेरी उक्त निर्बलता का लाभ उठाने के उद्देश्य से, मुझे पर सम्बन्धी ज्ञेयाकारों के प्रति, परपने की श्रद्धापूर्वक, उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न कर, उनको जानने के उत्साह की निवृत्ति तो कर ही लेना है। पर द्रव्यों के स्वतन्त्र परिणमन के आधार से उनके प्रति अपनी कर्ता-भोक्तापने की बुद्धि समाप्त कर और उनके जानने के प्रति भी उत्साह निवृत्ति करने से, मेरे जानने योग्य ज्ञेय एकमात्र स्वज्ञेय ही रह जावेगा, यही एक मात्र मेरा प्रयोजन था, वह इसप्रकार सिद्ध हो जाता है।

इसप्रकार अपनी वृत्ति को परसम्बन्धीज्ञेयाकारों की ओर से भी समेट कर एक मात्र स्व में वृत्ति को मर्यादित करने में सफलता

प्राप्त हो सकती है।

रुचि के पृष्ठबल से ही आत्मानुभूति

उपरोक्त समस्त प्रक्रिया में आत्मानुभूति प्राप्त करने में रुचिका पृष्ठबल मुख्य और प्रधान रहता है। क्योंकि पर की ओर से वृत्ति एवं उपयोग तब ही व्यावृत्य हो सकेगा जबकि उससे भी अधिक आकर्षण, स्वज्ञेय के प्रति श्रद्धा अर्थात् रुचि में जाग्रत हो जावेगा। जब स्व को विषय बनाने के लिये रुचि अत्यन्त उग्र होगई हो; तब परज्ञेयों के सन्मुख होने का उत्साह ही भंग हो जाता है। फलतः उनके प्रति आकर्षण भी समाप्त होकर, उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। क्योंकि जब तक रुचि ने अपने में (अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव में) अपनापन स्थापन नहीं कर लिया हो तबतक परसंबंधी ज्ञेयाकारों से उपयोग विमुख होकर, स्व की ओर जाने के लिये उत्साहवान कैसे होगा ? तात्पर्य यह है कि जब तक स्व एवं पर के यथार्थ स्वरूपों को समझकर ऐसा दृढतम एवं निःशंक निर्णय नहीं हो जावे, कि मेरा अस्तित्व ही सिद्धसमान त्रिकालीज्ञायकअकर्तास्वभावी है। परम निराकुल अतीन्द्रिय सुख (आनंद) को भोगने के स्वभाव वाला ही है। मेरा सुख तो मेरे में ही है। अतः पर में कुछ आकर्षण योग्य है ही नहीं वरन् पर तो पर ही है। उपयोग उसकी ओर कार्यशील रहने से तो राग जनित आकुलता का ही उत्पादन होता है। इसलिए मैं तो एकमात्र आत्मानन्द को भोगने का ही कामी हूँ आदि आदि के निर्णय द्वारा उसकी रुचि अत्यन्त उग्रता को प्राप्त हो जाती है । ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ भी अत्यन्त उग्र हो जाता है। इन सब के फल स्वरूप आत्मा के उपयोग में, परसम्बन्धी ज्ञेयाकार उपेक्षित अर्थात् गौण हो जाते हैं, स्व में एकत्व करने के सन्मुख हो जाता है। रुचि की उग्रता के बल से उपयोग के सामने मात्र स्व ही मुख्य हो जाता है। द्वैत का ही अभाव हो

जाने से, आत्मा की ज्ञान पर्याय में एक मात्र स्व ज्ञेयाकार के रूप में अपना ज्ञायक त्रिकाली कारण परमात्मा ही रह जाता है। जानन क्रिया तो ज्ञायक को जान ही रही है। अतः ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद भी अस्त हो कर, ज्ञेय परिवर्तन का भी अभाव होकर निर्विकल्पता को प्राप्त कर, आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का उपभोक्ता बन जाता है। इस परम कल्याणकारी दशा (पर्याय) प्राप्त कराने का श्रेय है तो मात्र एक रुचि (श्रद्धा) की उग्रता को है। अकेले निर्णय में यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह द्वैत का अभाव कर सकती थी, निष्कर्ष यह है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने में रुचि का पृष्ठबल ही प्रधान एवं मुख्य कारण रहता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान में अपने आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय होता है एवं उसकी सामर्थ्य का विश्वास तथा पर ज्ञेयों के स्वतंत्र परिणमन का विश्वास होता है। उसके द्वारा, पर में कर्तृत्वबुद्धि का अभाव एवं उनके जानने के प्रति भी निरुत्साहितबुद्धि के साथ ही निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रगट करने के उपाय का भी यथार्थ-दृढ एवं निःशंक निर्णय हो जाता है; उसके बिना उपयोग पर की ओर से व्यावृत्य हो कर आत्मा की ओर आकृष्ट ही नहीं होता एवं जगत में अपना आत्मा सर्वोत्कृष्ट महिमावान् नहीं लगता। जब पर की ओर जाने का उत्साह ही नहीं रहे तब आत्मा की अन्तर्दशा ऐसी होने पर, आत्मानुभूति प्रगट होती है; अन्य कोई उपाय है नहीं।

उपरोक्त प्रकार से उत्साहनिवृत्ति की महिमा बताने वाली समयसार परमागम की गाथा 143 की टीका महत्वपूर्ण एवं मननीय है जिसमें एक मात्र उत्साह निवृत्ति के कारण केवली भगवान के समान ही, श्रुतज्ञानी (चतुर्थ गुणस्थानवर्तीज्ञानी) को भी एक सरीखा बताया है वह टीका निम्नप्रकार है :–

"जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपने के कारण, श्रुतज्ञान

के अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही मात्र जानते हैं परन्तु, निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, श्रुत ज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार जो श्रुतज्ञानी आत्मा, क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं **ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे,** श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं परन्तु, अति तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समय से प्रतिबद्धता के द्वारा अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभवन द्वारा अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुये होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुये होने से,किसी भी नय पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह आत्मा वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।"

उपरोक्त टीका के भावों को स्पष्ट करते हुये पूज्य कानजी स्वामी ने विस्तार से स्पष्टीकरण किया है जो कि प्रवचन रत्नाकर भाग 5 गुजराती में प्रकाशित हो चुका है। उसके पृष्ठ 331–332 के कुछ अंश का अनुवाद निम्न प्रकार है –

"जिसप्रकार से केवली भगवान विश्व के अर्थात् लोकालोक के साक्षी हैं, ज्ञाता-दृष्टा हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञानातमक विकल्प उत्पन्न होते हुये भी, पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह से निवृत्त हो जाने से पर के ज्ञाता हैं, साक्षी हैं।

केवली भगवान श्रुतज्ञान के अवयवभूत ऐसे जो व्यवहार निश्चय नय पक्ष, उनके स्वरूप को ही मात्र जानते हैं। उसीप्रकार श्रुतज्ञानी आत्मा, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय के पक्षों के स्वरूप को ही केवलजानते हैं।

इस दूसरे बोल में दोनों को सरीखा कहा है, वहां केवली को श्रुतज्ञान नहीं है, इसलिये नय भी नहीं है; मात्र उनके स्वरूप को ही जानते हैं। उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी सम्यग्दर्शन के अनुभव के काल में, व्यवहार निश्चयनय के पक्ष छूट जाने से नय पक्ष के स्वरूप को ही केवल जानते हैं, विकल्प नहीं हैं।"

"निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा केवली भगवान स्वयं ही सदा विज्ञानघन हो गये हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी धर्मी जीव भी तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टि के द्वारा ग्रहण किया हुआ, निर्मल, नित्य-उदित, चिन्मय समय से प्रतिबद्धपने के द्वारा अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा, उस अनुभव के काल में, स्वयं ही विज्ञानघन हुआ है। नय पक्ष के ग्रहण के उत्साह से निवृत्त होने के कारण धर्मी जीव तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि के द्वारा स्वरूप में एकाग्र होकर स्वयं ही उसकाल में विज्ञानघन हो जाता है।"

"यहां इतना अन्तर है कि केवली भगवान सदा विज्ञानघन हुये हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव के काल में विज्ञानघन हुआ है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को बाद में विकल्प उठ जाते हैं इसलिये अनुभव के काल में ही वह विज्ञानघन होता है ऐसा यहाँ कहना है।"

उपरोक्त प्रकार से अपने स्वरूप एवं पर के स्वरूप की यथार्थ जानकारी प्राप्त कर तथा पर में परत्वबुद्धि के साथ ही उनके जानने के प्रति सहजरूप से उत्साह निवृत्ति वर्तने लगे एवं अपने जानने एवं एकत्व करने के प्रति सहजरूप से उत्साह प्रवर्तने लगे, तब उपयोग

एक मात्र स्व में एकाग्र होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनंद का उपभोक्ता बन जाता है। ऐसी महिमा उत्साह की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की है, जिस ओर की रुचि होती है, उसी ओर उत्साह जाग्रत होता है और जिस ओर की रुचि का अभाव होता है, उस ओर सहजरूप से उत्साह जाग्रत नहीं होता अर्थात् उत्साह की निवृत्ति रहती है।

अनेकान्त स्वभाव और सर्वज्ञता –

स्वपरप्रकाशकता एवं अनेकांत स्वभाव

आत्मा की पर्याय में वर्तने वाले अनेक प्रकारों अर्थात् भेद एवं विकारों को अपनी दृष्टि से दूर करके अर्थात् गौण करके यह विषय समझना चाहिये; क्योंकि सिद्धभगवान में आत्मा में इसप्रकार की पर्याय की अनेकताएँ नहीं वर्तती।

सिद्ध भगवान की आत्मा के प्रमाण के विषयभूत द्रव्य की अभेदपर्याय का विचार करें तो उसका जो कार्य प्रकाशित हो रहा है, उसको समझना चाहिये। इस संबंध में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनकी आत्मा का ऐसा कार्य प्रकाशित हो रहा है कि वे अपने स्व-पर-प्रकाशी ज्ञान द्वारा, स्व एवं पर सकल विश्व को जान रहे हैं। आत्मवस्तु स्वयं अनेकांत स्वभावी है एवं सकल विश्व के सकल पदार्थ भी अनेकान्त स्वभावी हैं। अतः सिद्ध आत्मा का ज्ञान, सकल विश्व को जानते समय ही, स्व को स्व के रूप में तथा पर को पर के रूप में तथा स्व में पर की नास्ति है तथा पर में स्व की नास्ति है इसप्रकार के स्वभाव सहित ही जानता है।

प्रश्न :– लिखने बोलने की भाषा से तो ऐसा लगने लगता है कि जैसे उनके ज्ञान को स्व एवं पर सम्बन्धी तथा स्व में पर की नास्ति संबंधी विकल्प करने पड़ते होंगे। लेकिन वहाँ तो विकल्पों को उत्पन्न करने वाले मोह का ही नाश हो गया है अतः विकल्प तो होना संभव ही

जानने के साथ ही मेरे रूप में तथा अन्य सभी 99 मकानों का "वे मेरे नहीं है" ऐसा ज्ञान, मेरे मकान के जानते समय एकसाथ ही तो हो जाता है। इसप्रकार अस्तिरूप ज्ञान तो एक मेरे मकान में और तत्समय ही अन्य मकानों का मेरे में नास्तिरूप ज्ञान बिना विकल्प के सहजरूप से वर्तता हुआ हम छद्मस्थों के ज्ञान में भी ज्ञात हो रहा है। तब सिद्धआत्मा के ज्ञान में छद्मस्थों से भी अन्यथा ज्ञात होना कैसे सम्भव हो सकता है ? इससे सिद्ध हुआ कि नास्तिरूप का ज्ञान भी जानने में ही सम्मिलित है, क्योंकि जाने बिना मेरे नहीं है ऐसा भी कैसे कहा जा सकेगा। जैसे मेरे शहर में 1000 मकान होंगे लेकिन मैंने तो मात्र मेरे मोहल्ले के 100 मकानों को ही देखा है तभी तो उनमें से 99 मेरे नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकेगा। बाकी शहर के 900 मकान तो मेरी जानकारी में ही नहीं आये, अतः उनके संबंध में कुछ भी कहा नहीं जाता। अतः सिद्ध हुआ कि मेरे आत्मा (स्वज्ञेय) के अस्तिरूप ज्ञान में परज्ञेयों का नास्तिरूप ज्ञान आ ही जाता है; उन ज्ञेयों को पहले अस्तिरूप जानने के पश्चात् ही नास्तिरूप करना पड़े ऐसा होता ही नहीं है। ऐसा माने बिना एक ही समय ज्ञान का स्व-पर-प्रकाशकपना सिद्ध ही नहीं होगा अथवा तो सिद्ध भगवान को भी ज्ञेय परिवर्तन मानना पड़ेगा जो कि सर्वथा आगम विरुद्ध है।

निष्कर्ष यह है कि सिद्ध भगवान का ज्ञान अनेकान्तस्वभावी होने के साथ ही स्व-पर-प्रकाशकस्वभावीरूप से हर समय परिणमता रहता है। फलतः अपने आपकी अस्ति स्व के रूप में निरन्तर जानते रहते हैं, उस जानने में ही, सकल विश्वरूपी समस्त ज्ञेयों की नास्ति है ऐसा ज्ञान आ ही जाता है। इसप्रकार उनके उपयोग का स्वपने विषय तो एकमात्र स्वज्ञेय (अपना आत्मा) ही सादिअनन्तकाल तक वर्तता रहता है; तथा स्वज्ञेय में उपयोग एकाग्र बना रहने एवं ज्ञप्ति परिवर्तन

का अभाव वर्तने से पर्याय द्रव्य के साथ अर्थात् अपने अनन्त गुण परिवार के साथ अभेद होकर तन्मय वर्तने से अतीन्द्रिय परम आनन्द में डूब कर अनन्तकाल तक भोगती रहती है। इसप्रकार पं. बनारसीदासजी का यह छन्द सार्थक हो जाता है कि

एक देखिये जानिये रमि रहिये इकठौर।
समल विमल न विचारिये यही सिद्धि नहीं और।।

नास्ति के ज्ञान से सर्वज्ञता कैसे सिद्ध होगी ?

उपरोक्त कथन तो क्षायोपशमिकज्ञानधारी छद्मस्थ को, सिद्ध भगवान् के ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशकता समझाने के लिये स्थूल दृष्टान्तस्वरूप था, क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान तो क्रमिक होता है; उपयोगात्मक स्व को जानते समय पर को नहीं जानता और पर के जानते समय स्व को नहीं जानता। अतः उपरोक्त दृष्टान्त सिद्ध भगवान के ज्ञान के लिये लागू नहीं होता।

अर्हन्त और सिद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं। उनका ज्ञान क्षायक होने से अक्रमिक कार्य करता है। ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो जाने से एवं अतीन्द्रिय हो जाने से लोकालोक के सर्वद्रव्यों-गुणों एवं उनके समय-समय के भूत-भावी-वर्तमान सभी परिणमन को, एक साथ प्रत्यक्ष जानता है। उनके जानने में स्व एवं पर सभी एकसाथ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, मुख्य गौण का अवकाश ही नहीं रहता। अतः उनका परिणमन हर समय अनेकान्त स्वभावी स्व-पर-प्रकाशक रूप से एकसाथ होता रहता है। लेकिन स्वप्रकाशक का विषय जो त्रिकाली ज्ञायकपरमपरिणामिकभाव है उसको तन्मयता पूर्वक जानता है और पर में परपना होने से उनको तन्मयतारहित जानता है। स्व तो निराकुल स्वभावी होने से, उसमें तन्मय होते ही आत्मा निराकुलतारूपी परमसुख का भोक्ता बन जाता है। पर को तन्मयता रहित जानने से उसके कोई

उपयोग के समक्ष तो एकमात्र स्वतत्व ही स्व के रूप में उपस्थित रह गया; अतः उपयोग उस एक में ही सादि अनन्तकाल तक एकाग्र रहता हुआ तन्मय होकर परिणमता रहता है।

सिद्धस्वरूपी ध्रुवतत्व ही मैं हूँ

आगम का एवं विश्व व्यवस्था का मूल आधार एवं सिद्धान्त है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्" जगत में जिसकी सत्ता है, वह ध्रुव रहते हुये अनवरत् रूप से उत्पाद-व्यय करता है अर्थात् पलटता रहता है। मैं भी स्वयं एक सत्तावान् पदार्थ हूँ इसलिए मैं भी हर समय ध्रुव रहकर उत्पाद व्यय कर रहा हूँ। उत्पाद व्यय वाले अनित्य स्वभाव को ही पर्याय कहा है उसही समय जो पलटने के स्वभाव वाला नहीं है नित्य अपरिणामी कूटस्थ जैसा स्थिर बना रहता है, उस स्वभाव को ध्रुव कहा है। इन दोनों सहित जिसकी सत्ता है, वह मेरा जीवद्रव्य आत्मद्रव्य सत्तावान पदार्थ है। न तो अकेला पर्यायस्वभावी आत्मा है और न अकेला ध्रुवस्वभावी आत्मा है। लेकिन अनादिकाल से मैंने मेरा अस्तित्व, मात्र पर्याय जैसा और जितना ही मांन रखा है और उसी में मेरापना माना हुआ है। इसलिये पर्यायदृष्टि बहिर्दृष्टि बहिरात्मपना चला आ रहा है । फलस्वरूप मेरा ज्ञान भी परलक्ष्यी परमुखापेक्षी-पर्यायसन्मुख बना चला आ रहा है; इसलिए मात्र पर्याय ही मुझे ज्ञात हो रही है। मैंने अपना अस्तित्व भी मात्र पर्याय जितना एवं पर्याय जैसा ही मान रखा है। इसीकारण मेरा लक्ष्य ध्रुव को जानने पहिचानने की ओर जाता ही नहीं। जबकि वास्तविक स्थिति तो स्पष्ट है कि ध्रुव के बिना पर्याय कभी रहती ही नहीं है। मैं ध्रुव की ओर लक्ष्य करूं अथवा नहीं तो भी उसकी विद्यमानता तो हर समय हर एक पर्याय के साथ रहती ही है; उसको प्राप्त करने के लिए मुझे कहीं जाना नहीं है तथा ढूंढना भी नहीं है। वह तो बिना खोजे ही निरंतर विद्यमान है। उसको स्व मानते

ही, ज्ञान भी उसके सन्मुख हो ही जावेगा; करना नहीं पडेगा और पर्याय में भी अप्राप्त की प्राप्ति हो जायेगी। लेकिन जब तक मेरी रुचि ही उसको खोजने की तथा प्राप्त करने की नहीं होगी, तबतक उसमें अपनापन कैसे होगा; फलतः मेरा उपयोग भी उसके सन्मुख नहीं हो सकेगा। अतः उसको प्राप्त करने का एक मात्र उपाय तो उसको जानने पहिचानने एवं उसी में एकत्व आदि करने की रुचि है।

विचार करने योग्य तथ्य तो यह है कि पर्याय तो हर समय नाश होती एवं उत्पन्न होती हुई अनुभव में आ ही रही है, लेकिन उनके उत्पाद व्यय अर्थात् जीवन मरण होते हुए भी मेरा नाश होता हुआ तो अनुभव नहीं आता। मेरा अस्तित्व तो अविनाशी रहता हुआ ही मेरे विश्वास में आ रहा है। इन सब कारणों से यह तो सिद्ध है कि शाश्वत रहने वाला ही मेरे आत्मा का स्वरूप हो सकता है अर्थात् वही मैं हूँ। निष्कर्ष यह है कि अनित्य स्वभावी पर्याय मैं नहीं हूँ, मैं तो एक अविनाशी नित्य स्वभावी ध्रुव तत्व ही हूँ। ऐसा निःशंक होकर मुझे मेरे ज्ञान श्रद्धान में टंकोत्कीर्ण जैसा उत्कीर्ण हो जाना चाहिये ।

प्रश्न :– मेरा ध्रुव तत्व सिद्धस्वभावी कैसे है ?

समाधान :– सिद्ध भगवान की आत्मा भी पूर्व दशा में तो हमारे जैसी ही विकारी एवं अधूरी पर्याय वाली ही थी। उसी आत्मा ने, अपनी उक्त पर्याय का अभाव करके, निर्विकारी एवं पूर्ण पर्याय को उत्पन्न किया। विचार करना चाहिये कि पूर्व पर्यायों का अभाव करके नवीन पर्यायें उत्पन्न करने का आधार भी तो अवश्य कोई होना चाहिये ? किसी कुये में पानी ही नहीं होगा तो बर्तन में आवेगा कहां से ? अतः सिद्ध होता है कि ध्रुवतत्त्व स्वयं निर्विकारी पूर्ण एवं शुद्ध है; तभी तो निर्विकारी एवं पूर्ण पर्याय होती है; जो कि सिद्ध भगवान की आत्मा से सिद्ध होती है और यही विश्वास करने योग्य है। जिसप्रकार

से अपनी ओर ही आना पड़ेगा, यह ही एक मात्र वास्तविक पुरुषार्थ है और यही करने योग्य है।

प्रश्न :– जबकि मेरा ध्रुवतत्त्व सिद्धभगवान जैसा परिपूर्ण और निर्मल है तो निकलने वाली पर्यायें भी उसके समान ही निकलना चाहिए ?

समाधान :– वास्तव में स्वभाव तो ऐसा ही है कि जिसमें जो हो वही पर्याय में आना चाहिये, लेकिन जब पर्याय अपने स्वभाव का आश्रय करे अर्थात् अपने ध्रुव स्वभावी आत्मतत्त्व को अपना माने तो ही अपना उपयोग अपने ध्रुवतत्त्व की ओर सन्मुख हो और तब पर्याय भी वैसी ही प्राप्त हो। जब पर्याय उसकी तरफ मुख ही नहीं मोडेगी तो पवित्रता आवेगी कैसे ? जैसे कुए में बर्तन डाला जावेगा तभी तो पानी आवेगा, बर्तन डालें बिना पानी आवेगा कैसे ? इसका प्रमाण है कि सिद्धभगवान की आत्माने अपनापन अपने ध्रुवतत्व (निज आत्मा) में स्थापन कर लिया तो उपयोग सहित आत्मा के अनंत गुण शुद्ध और परिपूर्ण प्रगट होगये और अनंतकाल तक स्वाभाविक पर्याय रूप ही परिणमते रहेंगे, क्योंकि पर्याय का स्वभाव ही स्वाभाविक परिणमने का है। समयसार गाथा 204 पर प्रवचन करते हुए पू.कानजीस्वामी ने भी कहा है जो प्रवचन रत्नाकर गुजराती भाग 5 के पृष्ठ 194 पर निम्नप्रकार से आया है। उसका अनुवाद निम्न प्रकार है :–

"अंतर्मुख होने पर आत्मा का ज्ञान होता है, क्योंकि वस्तु आत्मा अंतर्मुख है बाहर में नहीं, बाहर में तो पर्याय और राग है, इसलिए जो ज्ञान की पर्याय को अंतर में झुकाकर अनंत गुण की पिंडस्वरूप सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा में ही एकाग्र होता है, उसको आत्मज्ञान होता है।"

"निर्मल से निर्मल ज्ञान पर्यायें अपने आप उछलती है। अहाहा

ज्ञान की पर्यायें स्व को जानती हैं और सभी द्रव्य गुण पर्यायों को (पर लोकालोक की सभी को) भी जानती है। और वो स्वयं प्रगट होती है, अर्थात् सारा जगत है इसलिये उसका ज्ञान प्रगट हुआ है – ऐसा नहीं है, ज्ञान की पर्याय तो स्वयं, स्वयं के सामर्थ्य से सहज ही उछलती है, जानती है।"

उपरोक्त विवेचन से ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि उत्पाद व्यय वाली पर्याय का भण्डार (खजाना) ध्रुवतत्त्व है। पर्याय का परिणमन स्वतंत्र अपनी स्वयं की योग्यता एवं सामर्थ्य से होता है। पर्याय स्वयं एक समयवर्ती सत् है और ध्रुव स्वयं त्रिकाली सत् है, सत् को किसी भी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। सत् तो सदैव निरपेक्ष ही रहता है। जिसप्रकार त्रिकाली सत् को कोई असत् नहीं कर सकता, उसीप्रकार पर्याय के एक समय के अस्तित्व को कोई असत् करना चाहे तो यह भी असंभव है अर्थात् जिससमय की जिस पर्याय की जिस रूप से परिणमने की योग्यता होगी, वह उसीरूप ही परिणमेगी। वह न ध्रुवतत्त्व के आधीन है और न किसी भी अन्य के आधीन है।

प्रश्नः– तब पर्याय ध्रुव से विपरीत स्वभाववाली क्यों हो जाती हैं ?

समाधानः– जैसा ऊपर कहा था कि पर्याय भी एक समय का सत् है। अतः अपने आपके भविष्य का निर्माता भी वह पर्याय स्वयं ही है। लेकिन उसके भविष्य निर्माण में रुचि का योगदान सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। आगम का वाक्य है "रुचिअनुयायीवीर्य" अतः रुचि के अनुसार ही अंतर पुरुषार्थ होता है और तदनुसार ही पर्याय प्रगट होती है। रुचि का तो सामान्य नियम है कि जिसको अपना माना हो उसी के साथ सम्मिलन करने का पुरुषार्थ सहज ही होता है ऐसे पुरुषार्थ का नाम ही रुचि है।

आचार्य श्री ने समर्थन किया है:–

"**प्रश्न** :– यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है ?

उत्तर :– किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न :– तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसा है ?

उत्तर :– राग, द्वेष मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं। (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है)।"

उपरोक्त प्रकरण ज्ञानी के राग की उत्पत्ति के कारण की अपेक्षा से किया गया है, लेकिन ज्ञानी को भी राग की उत्पत्ति में अन्य कोई कारण नहीं होता, मात्र ज्ञान की आत्मा में एकाग्रता नहीं होना ही कारण है। अज्ञानी को तो आत्मा में, अपनेपने की मान्यता का अभाव होने के कारण, आत्मा को जानने की रुचि का ही अभाव है और अपने आत्मा में अपनापन हुये बिना, आत्मा को जानने की रुचि ही नहीं होती तो आत्मा का उपयोग उस ओर जा ही नहीं सकता।

उपरोक्त सभी विवेचन से यह स्पष्ट है कि अज्ञानी आत्मा को ध्रुवतत्त्व रूपी आत्मा में अपनेपन की मान्यता का अभाव ही विपरीत एवं अधूरी पर्याय के उत्पादन का कारण है।

उपरोक्त प्रकरण पर विस्तृत विचार करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हर समय उत्पाद-व्यय करती हुई तथा अनेक रूपों में बदलती हुई जो यह पर्याय ज्ञान में ज्ञात हो रही है, उस पर्याय के समय ही, सदैव साथ में रहने वाला ध्रुवतत्व भी विद्यमान तो रहता ही है। अज्ञानी को पर्याय के प्रेम के कारण (अपनापना मानने के कारण) ध्रुवतत्त्व ज्ञान में विद्यमान रहते हुए भी ज्ञात नहीं होता, इससे ऐसा तो नहीं माना जा सकता कि उस पर्याय के साथ ध्रुव का अस्तित्व ही नहीं है। अज्ञानी उस ओर जानने की चेष्टा ही नहीं करता और इसका

कारण ज्ञात नहीं होने से , ध्रुव तत्व के अस्तित्व का ही नकार करना तो महा विपरीतता होगी।

वास्तविक स्थिति यह है और आत्मार्थी को निःसंदेह होकर, दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार भी करना चाहिये कि ये जो क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती हुई पर्यायें हैं; वह मैं हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं तो एक अविनाशी तत्त्व हूँ, यह प्रत्यक्ष अनुभव में भी आ रहा है। अतः हर एक पर्याय के साथ ही रहने वाला अविनाशी ध्रुवतत्त्व ही मैं हूँ। मैं तो ऐसा भगवान् सिद्धस्वभावी हूँ, जिसप्रकार सिद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य, आदि अनन्त गुणों से भरपूर अनंत काल तक बने रहेगें व वर्तमान में बने हुये हैं, वैसे ही और उतने ही गुणों का धारक मेरा वह ध्रुवतत्त्व है, उनका आत्मा पर्याय में भी पूर्ण विकसित हो गया; अतः वे अपने ध्रुवतत्त्व के साथ पर्याय तत्त्व को भी जानते रहते हैं फिर भी विकल्प नहीं होता। अपने ही ध्रुवतत्त्व में अपनापन होने से, अपने आप में तन्मय होकर रह रहे हैं।

लेकिन मेरी छद्मस्थदशा के क्षायोपशमिक ज्ञान में इतनी सामर्थ्य ही नहीं है कि दोंनों का एक साथ ज्ञान कर सके। अतः मेरे ज्ञान की सामर्थ्य तो मात्र इतनी ही प्रगट हुई है कि मैं ध्रुवतत्त्व एवं पर्याय तत्त्व इन दोनों में से एक समय एक की ओर ही ज्ञान को केन्द्रित कर सकता हूँ अर्थात् उपयोग का विषय बना सकता हूँ। जिसमें अपनापन होगा, उसी को जानने की रुचि भी होगी, उसी ओर उपयोग भी जावेगा। तात्पर्य यह है कि जब अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वतत्त्व में अपनापन निश्चित हो जाता है, तो रुचि भी स्वलक्ष्यी हो जाती है, और उपयोग भी स्व के साथ एकत्व करने का प्रयास करने लगता है। उस समय पर्याय का विकारी परिणमन होते हुये एवं उसकी विद्यमानता रहते हुये भी तथा ज्ञान में वर्तते हुये भी, उस ओर झाँकने

का उत्साह ही नहीं रहता अतः वे ज्ञान में गौणतापूर्वक ज्ञात होते रहने पर भी, आत्मा के साथ एकत्व करने में बाधा नहीं पहुंचा पाते।

सारांश यह है कि ऐसा अकाट्य निर्णय एवं दृढ़तम श्रद्धाजागृत करना ही, आत्मार्थी को सर्वप्रथम करने योग्य कार्य है। ऐसी श्रद्धा के द्वारा ही आत्मानुभव होकर तारतम्यतानुसार अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद प्राप्त होता है। इसप्रकार स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा एकबार आत्मा का प्रत्यक्षीकरण एवं अतीन्द्रिय सुख का नमूना चखने के बाद ही, आत्मा को यथार्थ भेदज्ञान की कला प्राप्त होती है और उसी के आधार से ज्ञेय मात्र से भिन्नता करता हुआ आगे बढता जाता है और चरम दशा को प्राप्त कर लेता है।

इसप्रकार की कला प्राप्त हो जाने पर भी जब तक पूर्णदशा तक नहीं पहुच सके, तब तक चारित्र की निर्बलता के कारण उपयोग आत्मा में विशेष रुक नहीं पाता, तब बहिर्लक्ष्यी होने पर, फिर उपयोग के समक्ष ज्ञेयों की भीड़भाड़ आती है लेकिन पहले ज्ञेयों में अपनापन था अतः उनमें ही एकत्व करने के अभिप्राय से उपयोग बाहर के बाहर बना रहता था। अब ज्ञानी का अपनापना ध्रुवतत्व में आजाने से वे ज्ञेय पर के रूप में ज्ञात होते हैं फलतः उनमें एकत्व नहीं होता आत्मार्थी को यथार्थ भेदज्ञान होने से उनमें उपयोग एकाग्र नहीं हो पाता तथा स्वसंवेदन के स्वाद के कारण पर की ओर का उत्साह ही नहीं होता, फलतः रुचि तो स्व की ओर ही बनी रहती है। उपरोक्त प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा चारित्र का सामर्थ्य भी बढ़ता हुआ गुणस्थान परिपाटी के अनुसार क्रमशः सफलता प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्णदशा प्राप्त कर लेता है।

ध्रुव के आश्रय पूर्वक की पर्याय का सामर्थ्य

ज्ञान की एक समयवर्ती पर्याय का सामर्थ्य इतना महान एवं अचिंत्य है कि उस एक पर्याय में स्व संबंधी सर्वप्रकार के ज्ञेयाकार एवं पर संबंधी समस्त ज्ञेयाकार समा जाते हैं और उन समस्त (स्व एवं पर सम्बन्धी सब) ज्ञेयाकारों का ज्ञान भी उस ही समय की एक पर्याय में है। उस एक ही पर्याय में त्रिकालीज्ञायक ध्रुव तत्व ऐसा कारण परमात्मा एवं उसके समस्त गुण (अनंतगुण) तथा उन गुणों की हर समय वर्तनेवाली भूत-भविष्य-वर्तमान सभी पर्यायों का ज्ञान समा जाता है। इसके अतिरिक्त समस्त जीव राशि जो अनन्त है, जिसमें अनंत सिद्ध परमात्मा भी सम्मिलित हैं, (हर एक सिद्ध के ज्ञान में लोकालोक ज्ञात हो रहे हैं) उन सबको स्व-पर के विभाग पूर्वक पूर्ण हुई ज्ञानपर्याय जानती है। साथ ही अनंतानंत पुद्गल परमाणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एवं असंख्य कालाणु इन सभी द्रव्यों के गुण एवं त्रिकाल की समय-समय वर्तती हुई पर्यायें वे सभी उस एक समयवर्ती पर्याय में समा जाती हैं। ऐसा अनंत महिमावंत, ज्ञान की एक पर्याय का सामर्थ्य है। जिसका प्रमाण सिद्ध भगवान की ज्ञानपर्याय की हर समय की पर्याय है, अतः ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य में तो शंका करने योग्य है ही नहीं ।

इसप्रकार पूर्ण विकसित (क्षायिक) ज्ञानपर्याय में उपरोक्त सभी का ज्ञान समा जाता है अर्थात् प्रगट हो जाता है। लेकिन हमारे अविकसित ज्ञान (क्षायोपशमिक ज्ञान) की स्थिति इससे भिन्न प्रकार से वर्तती है।

हम संसारी प्राणियों का ज्ञान तो क्षायोपशमिक होने से हमारी पूरी सामर्थ्य प्रगट नहीं हो पाती, मात्र क्षयोपशम के अनुसार ही प्रगट हो पाती है। फलस्वरूप हमारे उपयोग के समक्ष उपस्थित विषयों में

हो पाती है। फलस्वरूप हमारे उपयोग के समक्ष उपस्थित विषयों में से भी मात्र उसी विषय का ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है जिनके जानने की योग्यता हो। अन्य विषय ज्ञान के समक्ष रहते हुए भी उनका ज्ञान होता हुआ मालूम ही नहीं पडता ।

स्व में एकत्व करने के लिए मुख्य गौण व्यवस्था आवश्यक

हम छद्मस्थों के ज्ञान में ज्ञायक के साथ एकत्व कैसे होता है, यह समझने के लिए ज्ञान में मुख्य गौण व्यवस्था को ध्यान में रखकर समझना चाहिये। क्योंकि जिसकी हमको मुख्यता (अपनापन) होती है, हमारा उपयोग भी उसही की ओर जाता है। जिसकी मुख्यता नहीं होती, वे ज्ञान के समक्ष रहते हुए भी उस ओर उपयोग नहीं जाता।

ज्ञान का सामान्य नियम है कि जिसको अपना जानता और मानता है, उसकी ऊर्ध्वता एवं महत्ता हुए बिना रहती ही नहीं है और जिसको अपना नहीं मानता, उसकी ओर सदैव हीनता वर्ते बिना रहती ही नहीं है। जिसको अपना मानता है, उसमें स्वामित्व, एकत्व, ममत्व कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व करने की भावना भी होती है फलतः उसकी ओर उपयोग का केन्द्रित होना सहज रूप से हुए बिना रहता ही नहीं है। जैसे हम सब के सामने अनेक पदार्थ उपस्थित हैं, लेकिन उन सबमें से जिसमें अपनापन होता है, उसके प्रति ही हमारी रुचि भी वर्तती है तथा उसकी ओर ही ज्ञान का उपयोग भी जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी रुचि, मात्र उसही विषय पर केन्द्रित हो जावेगी, जिसको हमने अपना (स्व) माना हो। वही सदैव ऊर्ध्व रहेगा एवं उसही के साथ एकत्व ममत्व करने की एवं उसही को करने व भोगने की वृत्ति जाग्रत होगी। जैसे मोहल्ले के अनेक मकान ज्ञान के समक्ष जानकारी में आते हुये भी, अपनत्व का भाव तो मात्र

अपने स्वयं के मकान में होता है। अतः उसकी जानकारी, एकत्व ममत्व आदि के साथ होती है फलतः उसकी ओर ही रुचि एकाग्र रहती है; अन्य मकानों के सम्बन्ध की जानकारी उपेक्षित भाव पूर्वक सहज रूप से होती है।

उपरोक्त दृष्टान्त के आधार से हम अगर अपनी रुचि एवं ज्ञान की एकाग्रता का वास्तविक विषय समझलेंगे तो हमको सफलता अवश्य प्राप्त हो सकेगी; इसके विपरीत जबतक हमको हमारे ज्ञान के समक्ष अनिर्णीत समकोटि में अनेक विषय रहेंगे तो आत्मा अपनत्व किसमें करेगा, एकत्व किसमें होगा। एकाग्र का अर्थ ही है, एक ही अग्र रहना। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के समक्ष समग्र लोकालोक ज्ञेय के रूप में हैं, उन सबमें से मुझे तो मात्र एक स्व को खोजना है।

आत्मार्थी उपर्युक्त सिद्धान्त समझकर, अपने ज्ञान में निर्णय करने के लिये अपने त्रिकालीज्ञायकभाव को मुख्य बनाता हुआ, अन्य समस्त ज्ञेयों को गौण नहीं करेगा तो त्रिकालीज्ञायकभाव की खोज कैसे कर सकेगा। उसको जाने पहिचाने बिना एकत्व किसमें और कैसे करेगा तथा त्रिकाली ज्ञायक स्वतत्त्व में एकत्व हुये बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होगा। अतः मुख्य-गौण व्यवस्था समझकर स्व में एकत्व कर लेना ही एकमात्र उपाय है।

भेदविज्ञान –

ध्रुव के आश्रय से स्व ज्ञेय को खोजना

जिसने देशनालब्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान के द्वारा अपने ध्रुवतत्त्व में अपनापन स्थापित कर लिया है। उसकी रुचि का वेग तो स्वतत्त्व (ज्ञायकभाव) की ओर बना ही रहता है। लेकिन स्थिरता की सामर्थ्य की कमी से उपयोग का लक्ष्य बाहर की ओर जाता है तो अनेक प्रकार के ज्ञेय तो ज्ञान के समक्ष आते ही हैं। उन अनन्त एवं अनेक प्रकार के

ज्ञेयों की उपस्थिति रहते हुऐ भी, ज्ञानी की श्रद्धा में अधिकता-ऊर्ध्वता तो एक त्रिकालीज्ञायकभाव की ही बनी रहने से, उन ज्ञेयों के जानने के प्रति उत्साह नहीं रहता फिर भी वे ज्ञान में आते तो हैं उनका उपेक्षापूर्वक जानना होता रहता है।

ज्ञानी की उनके प्रति स्वामित्वबुद्धि एकत्व ममत्व एवं कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। ध्रुवतत्व की मुख्यता बनी रहने से, सहज रूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है। भेद करने के लिए विकल्प नहीं करने पड़ते, विचार नहीं करना पडता वरन् सहजरूप से ज्ञान में भेद पूर्वक ही जानना होता रहता है। ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास रुचि को प्रोत्साहन देता रहता है। वह परज्ञेयों से एकत्व नहीं होने देता फलतः सहजरूप से संवरभाव बढता रहता है। ऐसे ही भेद ज्ञान की प्रेरणा और महिमा समयसार के कलश १३०-१३१ में की गई है, जिसका अनुवाद निम्नप्रकार है :–

"यह भेद विज्ञान अच्छिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तब तक भाना चाहिये, जबतक (ज्ञान) परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जावे ।।१३०।।"

"जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बंधे हैं, वे उसी के (भेद विज्ञान) के अभाव से बंधे हैं ।।१३१।।"

इसप्रकार ज्ञानी बनने के लिए भी उपरोक्त विधि से स्वतत्त्व का हमेशा ऊर्ध्व अथात् सर्वोत्कृष्ट बना रहना, वही ज्ञेयों में उपेक्षा पूर्वक वर्तते रहना है। वही स्वतत्व को खोजना है।

भेद विज्ञान के प्रकार

जिस प्रकार निष्णात स्वर्णकार की दृष्टि में अर्थात् ज्ञान-श्रद्धान में १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण निरंतर प्रगट (व्यक्त) बना रहता है; उसके आधार से वह मिश्रित स्वर्ण की डली में, चाहे उसमें चांदी, तांबा

अथवा अन्य किसी भी प्रकार की धातु मिली हुई हो, सबमें से असली शुद्ध स्वर्ण को पहिचान लेता है। वह ठगाता नहीं है; दिन भर व्यापार करते हुए भी भूल नहीं करता। मिश्रित स्वर्ण की डली में कौन सी धातु मिली है, यह निर्णय करने के लिये वह अपनी बुद्धि का एक क्षण भी नष्ट नहीं करता। मिश्रित स्वर्ण को बेचने वाला उस मिश्रण का भी मूल्य मांगता है तो स्वर्णकार उसका तो एक पैसा भी नहीं देता वरन् उसको जलाकर (नष्टकर) स्वर्ण को शुद्ध बनाने का पारिश्रमिक और मांग लेता है। क्योंकि शुद्ध स्वर्ण में किसी भी धातु का मिश्रण हो वह तो नष्ट करने की श्रेणी में है; मूल्यवान तो अकेला शुद्ध स्वर्ण ही है।

इसीप्रकार ज्ञानी पुरुष की दृष्टि अर्थात् ज्ञानश्रद्धान में १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण के समान, अपना ज्ञायक परमात्मा जाग्रत रहता है, दृष्टि में बना रहता है; उत्पाद-व्यय वाली ज्ञान पर्याय में भी, ध्रुवतत्त्व के रूप में वह ही शुद्ध स्वर्ण के समान, सर्वोत्कृष्ट उपादेय, रूप में प्रगट रहता है। क्योंकि उत्पाद व्यय वाली पर्याय में ध्रुवतत्त्व तो निरंतर विद्यमान है, दृष्टि को ही पर्याय की सन्मुखता हटाकर, मात्र स्वसन्मुख करना है; प्राप्त की ही प्राप्ति करनी है, अतः ध्रुव की रुचि एवं ऊर्ध्वता ही दृष्टि परिवर्तन करने का मूल उपाय है। ज्ञानी को वह प्राप्त हो चुका है। उत्पाद-व्यय वाली पर्याय में ज्ञात होने वाले परज्ञेय उसको भी ज्ञात तो होते हैं, लेकिन वे सब, स्वर्ण की डली में मिश्रित धातु के समान हेय मानते हुए गौणरूप से ज्ञात होते हैं। उनमें रुक कर उनके प्रकारों के विश्लेषण करने के लिये, अपने पुरुषार्थ का एक क्षण भी लगाना उसको भारभूत लगता है; फलतः उनके जानने के प्रति उत्साह तो होता ही नहीं वरन् उपेक्षा वर्तती रहती है। उपरोक्त विधि अज्ञानी को भी विकल्पात्मक ज्ञान में रुचिपूर्वक अपनानी पड़ती है।

अपने से भिन्न परज्ञेयों के रूप में ज्ञात होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञेयों के वर्गीकरण के रूप में, भेदविज्ञान के भी अनेक भेद पड़ जाते हैं। उनमें निजतत्त्व (स्वतत्त्व) के रूप में तो परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत अपना त्रिकाली ज्ञायक भाव मुख्य एवं परम उपादेय ही रहता है। उसकी अधिकता सर्वोत्कृष्टता एवं ऊर्ध्वता कभी भी ज्ञान-श्रद्धान में हटती अथवा मंद पड़ती नहीं।

त्रिकाली ज्ञायक भाव की मुख्यता रहते हुये भी, उपयोग की स्वरुप में स्थिरता-मग्नता तन्मयता-एकाग्रता के सामर्थ्य की कमी अर्थात् अपनी चारित्र की निर्बलता के कारण उपयोग, बहिर्लक्ष्यी होने पर ज्ञान में ज्ञात होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञेयों से, भेद-ज्ञान कर, अपने ज्ञायकभाव में अपनत्व रखते हुये, अन्य किसी में अपनत्व नहीं होने देता; यही वास्तविक भेदज्ञान की प्रणाली है।

स्थूल असद्भूत उपचार के विषयों से भेदज्ञान

जिसने ध्रुवतत्त्व में अहंपना स्थापित किया है, उसको तो स्वतत्त्व तो स्व के रूप में एवं ध्रुवतत्त्व के अतिरिक्त, ज्ञान में ज्ञात होने वाले सभी ज्ञेय, सहज रूप से परज्ञेय के रूप में ज्ञात होते रहते हैं। यही कारण है कि उपरोक्त प्रकार का भेदज्ञान बिना प्रयास के ही सहजरूप से ज्ञानी को वर्तता रहता है। ज्ञानी जानता है कि अपने ध्रुवतत्त्व में अपनेपन की मान्यता में किंचित् भी शिथिलता उत्पन्न होगी तो सहज रूप से ही उपरोक्त प्रकार के भेदज्ञान का वर्तना समाप्त हो जायेगा; ऐसी स्थिति से बचने के लिये ज्ञानी धर्मात्मा, अपनी रुचि को प्रोत्साहित रखने के लिये, निरंतर जाग्रत रहता है। जिनवाणी में से अपनी रुचि को प्रोत्साहन देनेवाले प्रकरणों के अध्ययन, मनन, चिंतवन सत्समागम आदि के साथ-साथ श्रावक के षट्कर्मों में अपने उपयोग को व्यस्त रखते हुये, आत्मार्थ पोषक चर्चा-वार्ता आदि में भी व्यस्त रखता है।

उसके फलस्वरूप ज्ञानी को शुभभावों की प्रचुरता एवं अशुभभावों की कमी सहज ही वर्तती रहती है, और रुचि वृद्धिंगत होती रहती है।

उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मार्थी के ज्ञान में भी इस शरीर से भिन्न अस्तित्व रखने वाले ऐसे स्त्री, पुत्र, पौत्र,पुत्री,मित्र एवं शत्रु आदि सचेतन परिकर एवं मकान, जायदाद, रुपया, पैसा, कारखाने, व्यापार, धंधा आदि अचेतन परिकर सभी ज्ञात होते हैं। सभी वे स्वतंत्रता पूर्वक अस्तित्व रखने वाले पदार्थ हैं। सबमें ही प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण विद्यमान है तो वे ज्ञान में ज्ञात तो अवश्य होंगे ही और ज्ञान भी अपनी योग्यतानुसार उनको जाने बिना रह ही नहीं सकता। लेकिन ज्ञानी को तो श्रद्धा में अपने ध्रुवतत्त्व में स्वपना टंकोत्कीर्ण हो चुका है, अतः वे सब उसको सहजरूप से परज्ञेय तरीके ज्ञात होते रहते हैं। वह विचारता है कि ये सारे पदार्थ अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले है, और अपने-अपने उत्पाद-व्यय को करते हुये वर्त रहे हैं उसमें मेरा किसीप्रकार का कर्त्तृत्व नहीं है। उनको मेरे जानने की भी अपेक्षा नहीं है, मैं उनको जान भी रहा हूँ या नहीं, इसकी भी उनको जानकारी नहीं है, इसप्रकार वास्तव में मेरा उनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं बनता। उनके साथ अगर मैं किसी प्रकार का सम्बन्ध मानूंगा तो वह तो निरर्थक की कल्पना मात्र ही होगी। जैसे मैं किसी को मित्र मानता हूँ तो यह आवश्यक नहीं कि मेरे मित्र मानलेने के कारण उसको भी मुझे मित्र मानना ही पड़े। ऐसे सम्बन्ध तो टूटते हुये वर्तमान में ही देखे जाते हैं। जैसे तलाक होते ही स्त्री दूसरे को पति मान लेती है, दत्तक होते ही पुत्र दूसरे को पिता मानलेता है,शत्रु को मित्र होता हुआ व मित्र को शत्रु होते हुये, प्रत्यक्ष देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि कल्पनाओं का कोई अस्तित्व तो होता नहीं, वह तो समाप्त होने को ही होती हैं।

तात्पर्य यह है कि उनके साथ अगर कोई प्रकार का संबंध माना भी जावे तो, वास्तव में संबंध नहीं होते हुये भी, विश्व के छहों द्रव्यों के समान, मात्र ज्ञाता-ज्ञेय संबंध ही कहा जा सकता है। समयसार कलश 200 में कहा भी है, जिसका भाषान्तर निम्न है :–

"परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी सम्बन्ध नहीं है; इसप्रकार कर्तृत्त्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा के पर द्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है। ।200।।"

इसप्रकार स्थूलरूप से भी आत्मा से किसी प्रकार का संबंध नहीं होते हुये भी उनके साथ संबंध बताना अथवा कहना मात्र स्थूल असद्भूत उपचारनय का कथन मानना चाहिये।

आत्मा में वे असद्भूत हैं फिर भी उनको आत्मा के अथवा आत्मा से संबंधित कहना, उपचार मात्र ही है अर्थात् वास्तविक नहीं है। आत्मा तो इन सबसे अत्यन्त भिन्न, सिद्धस्वभावीतत्त्व है, ऐसा जानना व मानना वह वास्तविक है, और वह तत्त्व ही परमशुद्धनिश्चय-नय का अर्थात् ज्ञान का वास्तविक विषय है। इसप्रकार उपरोक्त श्रद्धा पूर्वक ज्ञानी को उपरोक्त सभी पदार्थों से सहजरूप से निरंतर भेदज्ञान वर्तता रहता है। फिर भी निर्बलता वश, वृत्ति उनके सन्मुख हो जाती है, ज्ञान में ज्ञात भी होते हैं; लेकिन उपरोक्त श्रद्धा के बल से उनमें अपनत्व नहीं होने देता। फलस्वरूप उनके प्रति तीव्र आसक्ति अर्थात् गृद्धता के भाव नहीं रहते, सहज रूप से उपेक्षा भाव वर्तता रहता है।

रुचिपूर्वक पुरुषार्थ तो अज्ञानी को भी ज्ञानी बनने के लिये उपर्युक्त प्रकार का ही करना पड़ेगा। ज्ञानी होने पर वह सहज रूप से वर्तने लगता है।

असमान जातीय द्रव्य पर्याय से भेदज्ञान

उपयोग बहिर्लक्ष्यी होने पर, सर्व प्रथम, अपनी असमानजातीय द्रव्य पर्याय यह शरीरधारी आत्मा अर्थात् अनादिकाल से अपना आत्मा इस शरीर के साथ ही अनवरतरूप से चलता चला आ रहा है; इसके कारण मात्र एकक्षेत्रावगाह संबंध पूर्वक दिखने वाली यह असमान जातीय द्रव्य पर्याय ज्ञात होती है। उसको अपने द्रव्य (ध्रुवतत्त्व) की दृष्टि को मुख्य रखकर देखने से तथा दोनों के स्वरूप विचारने पर दोनों भिन्न-भिन्न दिखने लगते हैं। त्रिकाली ज्ञायक तत्व तो मैं हूँ, वह तो अपने असंख्यप्रदेशरूप स्वक्षेत्र को छोड़कर पर के क्षेत्र में जाता नहीं और ये शरीर तो अनन्त परमाणुओं की स्कन्धरूप पर्याय है। वह तो पुद्गल से अभिन्न है, इसलिये पुद्गल भी अपने स्वक्षेत्र को छोड़कर कहीं जाता नहीं, उसकी पर्याय भी अपने द्रव्य से तन्मय होकर वर्तती है, अतः शरीररूपी पुद्गलपर्याय भी अपने द्रव्य से तन्मय होकर वर्तती है। विश्व का हर एक द्रव्य स्वतंत्रतापूर्वक अपनी पर्याय को ही करता है।

अतः वह शरीररूपीपर्याय किसी भी प्रकार परिणमन करे उसका मेरे से संबंध ही क्या है ? कुछ नहीं। मेरी ज्ञान की पर्याय जो स्वतंत्रता पूर्वक मेरे असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में वर्तती है, वह परलक्ष्य पूर्वक जब वर्तती है तो अपनी योग्यता से इस असमानजातीयद्रव्यपर्याय रूप परिणत पुद्गल स्कन्ध को परज्ञेय के रूप में जानती है, अतः मात्र उतने समय के लिये कहा जानेवाला, ज्ञाता-ज्ञेय सम्बंध है। इसी को जिनवाणी में उपचरित-असद्भूत उपचार नय का विषय कहकर, उससे भेदज्ञान कराया है इसलिये उपचार है। उनका अस्तित्व आत्मा में नहीं होने से असद्भूत है, फिर भी वह संसार दशा में आत्मा के साथ रहता है, उनको आत्मा का कहना-बताना वह मात्र व्यवहार कथन है।

ऐसा मानकर उनमें परपना मानते हुये एकत्व बुद्धि नहीं होने देना वही असमानजातीयद्रव्यपर्याय से भेदज्ञान है। ऐसा भेदज्ञान वर्तने के साथ-साथ आत्मार्थी की रुचि की उग्रता बढ़ जाने से आत्मा के साथ एकत्व करने के प्रति उत्साह भी बढ़ता जाता है एवं शरीर और शरीर के परिणमन के प्रति उदासीन भाव वर्तने लगता है। फलतः आत्मा को इन्द्रियों एवं उनके विषयों में अपनी ओर आकर्षित करने की सामर्थ्य नहीं रहती। पांचों इन्द्रिय के विषय जिन में शब्दरूप परिणत भाषा वर्गणाऐं भी सम्मलित हैं तथा मनगत विचारों के प्रति भी स्वामित्व-कर्तृत्व आदि के भाव क्षीण होते जाते हैं; सभी पर ज्ञेय के रूप में ज्ञात होने लगते हैं, फलतः उनके प्रति आसक्ति भाव भी अत्यन्त क्षीण हो जाता है। ऐसी दशा में बाह्य जीवन अर्थात् आत्म भावों (कषायों) की मंदता के अतिरिक्त, बाहर दिखने वाली सभी क्रियाओं में भी परिवर्तन आये बिना नहीं रहता, ऐसे परिवर्तन आने का सहज रूप से आत्मा के भावों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, जिसका विस्तार से वर्णन चरणानुयोग के ग्रन्थों में है।

असद्भूत अनुपचरित व्यवहार के विषयों से भेदज्ञान

जिनका आत्मा में अस्तित्व नहीं हो उनको तो असद्भूत कहते है, लेकिन फिर भी जिन का आत्मा के परिणमन के साथ कोई संबंध हो उनको अनुपचरित कहते हैं, तथा जो आत्मा के नहीं हों फिर भी उनको आत्मा के कहना, वह उपचार मात्र से कहा गया व्यवहार कथन है। असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय के विषय भी ज्ञान में ज्ञात तो होंगे, अतः उनके साथ भेदज्ञान कैसे हो, इस पर विचार करना है।

द्रव्य कर्मों का आत्मा के साथ अनादिकाल से संश्लेशपूर्वक एकक्षेत्रावगाही संबंध चला आ रहा है और जब तक चरमदशा प्राप्त

नहीं होगी तबतक इनका सम्बन्ध बना ही रहेगा। साथ ही आत्मा के परिणामों के साथ भी इनका निमित्त-नैमित्तक संबंध बना हुआ है, वह भी चरम दशा तक रहता है। अतः द्रव्यकर्म आत्मा में असद्भूत् होते हुये भी इनका आत्मा के साथ अनुपचरित संबंध है। शरीर के साथ के सम्बन्ध को भी जिनवाणी में संश्लेष संबंध तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय कहा है। तात्पर्य यह है कि कोई भी हो और किसी भी नय का विषय हो, वह आत्मा का मानने योग्य नहीं है।

वास्तव में मेरे त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव तत्व में तो उन पर्यायों का ही अभाव है, जिनका द्रव्य कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, क्योंकि पर्यायें तो अनित्य स्वभावी हैं और मैं तो नित्य-ध्रुव स्वभावी हूँ अतः इस अपेक्षा वास्तव में वे मेरी कैसे हो सकती हैं ? नहीं हो सकती।

फिर ये द्रव्य कर्म तो अचेतन स्वभावी पुद्गल द्रव्य हैं, वे तो स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले पदार्थ हैं, मेरे लिये तो वे परद्रव्य हैं। उनकी पर्यायों के उत्पादक वे स्वयं ही हैं, अपनी अपनी योग्यतानुसार वे स्वतंत्ररूप से परिणमते रहते हैं। अतः मेरा उनके साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। पर्याय की अपेक्षा भी विचार करें तो वे पर्यायें हर समय मेरी अपेक्षा रखे बिना ही, अपनी योग्यतानुसार, अनवरतरूप से परिणम रही हैं। इसीप्रकार भावकर्मों की पर्यायें (विकारी पर्यायें) भी स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी योग्यतानुसार अनवरतरूप से परिणम रही हैं। इन दोनों के परिणमन के अनुभागों का, अपने-अपने कारण से एककाल में सहज ही एक सरीखा परिणमन हो रहा है। जिनवाणी में इसप्रकार के संबंध को ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध के नाम से कहा गया है। लेकिन वास्तव में ऐसा सम्बन्ध तो मात्र एककालप्रत्यासत्ति का ही द्योतक है। इससे उनमें कर्ता-कर्म संबंध कैसे माना जा सकेगा,

कर्ता-कर्म संबंध तो व्याप्य-व्यापक में ही होता है सो ऐसा संबंध तो तत् तत् द्रव्य का अपनी-अपनी पर्याय के साथ ही हो सकता है। किसी द्रव्य की पर्याय का अन्य द्रव्य की पर्याय के साथ तो नहीं हो सकता। फलतः आत्मद्रव्य की पर्याय का उत्पादक तो आत्मद्रव्य ही है और द्रव्यकर्मरूपी पुद्गल की पर्याय का उत्पादक तो वह पुद्गल द्रव्य ही हो सकता है। इसलिये वास्तव में तो कोई सम्बंध है ही नहीं। लेकिन फिर भी जब तक आत्मा को विकारी एवं अपूर्णदशा वर्तती है तब तक दोनों की पर्यायों का स्वतंत्रता पूर्वक एक साथ एक सरीखा परिणमन होता ही रहता है। ऐसे विशिष्ट प्रकार के संबंध को देखकर, द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा के भाव हुये एवं आत्मा के परिणमन के निमित्त से द्रव्यकर्म के भाव हुये, इसप्रकार असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों का करने वाला आत्मा को जिनवाणी में भी कहा गया है। जिसका उद्देश्य यह समझाने का होता है कि आत्मा वास्तव में उनका कर्ता नहीं है, आत्मा तो अपने विकारी भावों को भी करनेवाला व्यवहार से कहा जाने तक ही सीमित है। लेकिन मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ। मैं तो त्रिकाल ज्ञायक हूँ, किसी का भी कर्ता अथवा भोक्ता नहीं हूँ। मैं तो एक अकर्ता स्वभावी हूँ। मेरी अनित्य पर्याय कैसी भी परिणमे तो भी मैं तो उसका करने वाला नहीं हूँ। अतः द्रव्यकर्म आदि किसी भी द्रव्य का कर्ता तो मैं हो ही नहीं सकता। मैं तो परमशुद्ध निश्चयनय का विषयभूत त्रिकाली ज्ञायक अकर्ता स्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, इसप्रकार ज्ञानी को सहजरूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है, लेकिन अज्ञानी को प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है।

जिनवाणी में ऐसा कथन करने का अभिप्राय तो ऐसा है कि द्रव्यकर्मों का आत्मा के परिणमन के साथ एक साथ, एक सरीखा परिणमन देखकर कोई अज्ञानी ऐसा नहीं समझलेवे और मान लेवे कि

आत्मा के उस परिणमन का करनेवाला द्रव्यकर्म है। इसलिये आत्मा के भावों का कर्ता द्रव्यकर्म को मानने के मिथ्या अभिप्राय से बचाने के लिये जिनवाणी में असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय से आत्मा को कर्त्ता कहा गया और ऐसे कथन को भी व्यवहार कथन कहा है। निश्चय से आत्मा को इनका कर्ता नहीं मान लेवे इस अभिप्राय से उक्त कथन किया गया है। जैनधर्म का यह अटल सिद्धान्त है कि 'कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य अथवा उसकी पर्याय का कर्त्ता कभी नहीं हो सकता।' क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में अत्यन्ताभाव की, वज्र के समान अभेद्य दीवार खड़ी है।

इसप्रकार ज्ञानी तो अपना अस्तित्व ध्रुवतत्त्वरूप ही मानता है, अतः कोई प्रकार के भी कथन उसको भ्रमित नहीं कर सकते। उक्त श्रद्धा के साथ, उसके परलक्ष्यी ज्ञान में जो भी ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उन सबके प्रति सहजरूप से परपना वर्तने के कारण, उनके परिणमन को अपना परिणमन तो मानता ही नहीं, वरन् उनके स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा होने से, न तो उनके परिणमन के प्रति हर्ष होता है और न खेद होता है।

फिर भी निर्बलतावश उनके परिणमन के प्रति खेद अथवा प्रसन्नता का भाव उत्पन्न होवे तो भेदज्ञान के बल से, अपने को ज्ञायक परमात्मा मानते हुये एवं उनके परिणमन की स्वतंत्रता की श्रद्धा के द्वारा, उनके साथ स्वामित्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व अथवा एकत्व-ममत्व के भाव उत्पन्न नहीं होने देता। वास्तव में तो वह ऐसा जानता एवं मानता है कि मेरी ज्ञान पर्याय में जो ये ज्ञेयपने को प्राप्त हुये हैं, इसमें इनका कोई योगदान नहीं है, यह तो स्वयं मेरी ज्ञान पर्याय की इस समय की योग्यता का प्रदर्शन है, इनके आकाररूप मेरी ज्ञान पर्याय का ही परिणमन हुआ है। इसी कारण मेरी ज्ञान पर्याय ही ज्ञात

हो रही है। इस पर्याय में मेरे ध्रुवतत्त्व का ज्ञानाकार भी तो व्यक्त है, प्रगट है। क्योंकि ज्ञान पर्याय का स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक है, वह अकेले पर को जान ही नहीं सकती। अतः पर संबंधी ज्ञान के समय भी, स्व के रूप में तो मेरा ध्रुवतत्त्व ही ज्ञात हो रहा है और पर सम्बन्धी ज्ञेयाकार भी मेरी ही पर्याय होने से वह भी तो मैं ही हूँ, पर ज्ञेयों का तो मेरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। इसप्रकार की श्रद्धा के कारण ज्ञानी तो आकुलित नहीं होते हुये, आंशिक निराकुल आनन्द का वेदन निरंतर करता रहता है। द्रव्य कर्मों के परिणमन के प्रति उपेक्षित भाव से मध्यस्थ रहकर वर्तता रहता है। वे स्वतंत्र द्रव्य हैं अवश्य परिणमेंगे तथा ज्ञान में परज्ञेय के रूप में ज्ञात भी होंगे लेकिन मैं तो उनके प्रति तटस्थ होकर वर्तता हूँ। इसप्रकार सहज परिणमने वाले भेदज्ञान के बल से रुचि को और भी उग्र करता हुआ, पर के प्रति उपेक्षित रहता हुआ, आगे वृद्धि को प्राप्त करता रहता है। लेकिन अज्ञानी को इसप्रकार का निःशंक निर्णय करना पड़ता है।

सद्भूत उपचरित व्यवहार के विषयों से भेदज्ञान

जिस आत्मार्थी ने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्वरूप ही अपना अस्तित्व माना है। फिर भी उसके ज्ञान में ज्ञात होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञेयों में से जिनका आत्मा में अस्तित्व नहीं होने पर भी आत्मा के कहे जाते है, ऐसे ज्ञेयों के सम्बन्ध में तो उपरोक्त प्रकार से समझ लिया गया। अब जिन ज्ञेयों का आत्मा के गुण, पर्यायों में से किसी के साथ भी किसी प्रकार से सम्बन्ध बनता हो, लेकिन त्रिकालीज्ञायक में जिनका अभाव हो, **उनको भी** आत्मा के कहना, वे सब ही सद्भूत व्यवहारनय के **विषय हैं, उन**के संबंध में समझना है। आलापपद्धति पृष्ठ २२८ पर **इनका स्वरूप** बताया है, उसका भाषान्तर निम्न प्रकार है:–

"व्यवहार नय के दो भेद हैं – सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहारनय। उनमें से एक ही वस्तु में भेद आदि व्यवहार करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है और भिन्न वस्तुओं में अभेद व्यवहार करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है।"

उपरोक्त प्रकार से दोनों नयों को उपचार, अनुपचार दो भेद करके समझाया गया है। उपचार का भी लक्षण आलापपद्धतिकार ने बताया है; वह भी निम्नप्रकार है –

"मुख्य का अभाव होने पर भी, प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अथवा निमित्तपना बताने के लिये, (जिसमें मुख्य का अभाव हो उसमें) उपचार का प्रवर्तन किया जाता है।"

उपरोक्त आधार से ,आत्मद्रव्य के गुण एवं पर्यायें, जो आत्मा में ही हैं, (आत्मद्रव्य के ही अंश हैं) वे आत्मा के ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात तो होते ही हैं, क्योंकि आत्मा में प्रमेयत्व गुण है अतः वे आत्मा के ज्ञान में ज्ञात हुये बिना रह ही नहीं सकते। इसलिये वे सभी सद्भूत हैं। लेकिन त्रिकाली ज्ञायक भाव में उन सबकी विद्यमानता नहीं मिलने से वे सहज ही पर के रूप में ज्ञात होते हैं, ऐसी स्थिति में आत्मार्थी उन ज्ञेयों का विश्लेषण करता है।

मेरी आत्मा के स्वक्षेत्र में उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की विकारी पर्यायें जैसे राग-द्वेषादि समस्त औदयिकभाव आदि एवं अल्प विकसित पर्यायें जैसे मतिज्ञानादि समस्त क्षयोपशमिक भाव आदि एवं सभी निर्विकारी (निर्मल) पर्यायें वे सब ही भाव मेरे आत्मा के ध्रुव स्वभाव से विपरीत अनित्य भाव हैं। इसलिए वे सब अविकसित एवं विकसित पर्यायों जैसा ही मैं अपना अस्तित्व कैसे मान सकता हूँ, अतः ये सब जो अनित्यभाव हैं, वे मैं नहीं हूँ तथा वे मेरे नहीं हैं ? इस अपेक्षा वे सभी पर हैं, पर भाव हैं। मैं तो इन सबसे भिन्न, नित्यस्वभावी

निर्विकारी एवं परिपूर्णतावाला त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ। ज्ञानी आत्मार्थी को अपने ही असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली उक्त पर्यायें, उपरोक्त श्रद्धा के आधार से ज्ञान में ज्ञात होते समय ही (बिना विकल्प करे) उनसे सहजरूप से भेदज्ञान वर्तता रहता है।

ज्ञानी विचार करता है कि उपरोक्त प्रकार की पर्यायें मेरे ज्ञान में ज्ञात होती हैं और होंगी भी, लेकिन वे मेरी कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि मैं तो एक नित्य शाश्वत, त्रिकाल एकरूप रहने वाला ध्रुवतत्त्व हूँ और ये पर्यायें तो मात्र एक समय टिकनेवाली, हर समय रूप बदलने वाले अनित्य तत्त्व हैं। मैं तो त्रिकाली सत् हूँ और ये पर्याय तो एक समयवर्ती सत् हैं। अगर पर्याय जितना ही मैं अपने आपको मान लूँ तो मुझे तो हर समय जीवन और मृत्यु का दुःख भोगना पड़ेगा। लेकिन मैं तो मेरा अस्तित्व नित्य रहनेवाला अनुभव कर रहा हूँ। इसप्रकार अनेक विचारों से ज्ञानी अपनी श्रद्धा को और भी दृढ़ करता हुआ रुचि को प्रोत्साहित करता रहता है।

विकारी पर्यायों के संबंध में विचार किया जावे तो वे तो मेरे स्वभाव से विपरीत स्वभाववाली हैं तथा मेरे स्वभाव का घात करने वाली हैं; वे मेरे प्रदेशों में ही उत्पन्न हो रही हैं लेकिन उनका मैं नाश करना चाहता हूँ; अतः मैं उनको मेरी कैसे मानूं ? जैसे अपने ही घर में उत्पन्न होनेवाले मूषक (चूहे), खटमल आदि अनेक प्रकार के जन्तु जो मेरे घर में ही उत्पन्न होकर, मेरे को ही हानि पहुँचाते हैं, तो क्या उनको अपना मानकर, उनके प्रतिरक्षण-पोषण का भाव कोई करता है ? अगर किसी को ऐसा भाव हो तो उसको सब मूर्ख ही मानेंगे। उसीप्रकार मेरे ही असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले आत्म विरोधी भाव, जो आत्मा को ही हानि पहुँचानेवाले हैं, उनको अपना मानकर, उनके रक्षण-पोषण करने का भाव, ज्ञानी को कैसे हो सकता

है ? वह तो शीघ्र से शीघ्र उनका अभाव ही चाहता है।

अन्य अपेक्षा से भी विचार करें तो ये पर्यायें संयोग जनित होने से संयोगीभाव हैं, क्योंकि अगर मेरे आश्रय से उत्पन्न होकर ये पर्यायें उत्पन्न होती तो मेरे जैसी ही होनी चाहिये थीं, लेकिन ये तो मेरे से विपरीत स्वभाववाली हैं। अनादि से मेरी ही पर्याय मेरे को भूलकर पर को अपना मानती आ रही हैं फलस्वरूप ज्ञान भी पर लक्ष्यी ही बना हुआ है। इसलिये जो भी इस ज्ञान के समक्ष आता है, उसी को अपना मानता हुआ, अज्ञानी उसके साथ सम्बन्ध कर लेता है। संयोग के काल में द्रव्यकर्म निमित्त होते हैं, द्रव्यकर्मों के समान ही भावकर्मों का स्वयं उत्पादन करने लगता है। इसकारण भी संयोग जनित होने से संयोगी भाव हैं, वे मेरे कैसे हो सकते हैं। इन सब कारणों से मैं, इनको मेरे अर्थात् मेरा उत्पादन तो स्वीकार कर ही नहीं सकता। इस अपेक्षा से वे मेरे से पर ही हैं, और पर होने से मेरे रक्षण पोषण करने योग्य नहीं हैं एवं मैत्री भी करने योग्य नहीं हैं।

प्रश्नः– उपरोक्त प्रकार से मान लेने पर भी, इनका उत्पन्न होना तो नहीं रुकता एवं मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हुये भी नहीं रुकते ? अतः इनसे मुक्ति कैसे मिले ?

समाधान :– ये पर्यायें भी तो एक समयवर्ती सत् हैं, वे भी तो अपने जन्म क्षण में अपनी स्वयं की योग्यतानुसार उत्पन्न तो होंगी ही होंगी। उनकी सत्ता को कोई भी छीन नहीं सकता, अन्य द्रव्य का संयोग होने पर भी उस द्रव्य का तो मेरी इस पर्याय में अत्यन्ताभाव है; अतः वो द्रव्य तो मेरी पर्याय को स्पर्श भी नहीं कर सकता। जिस द्रव्य में, जिसप्रकार की योग्यता नहीं हो, वह अन्य द्रव्य द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती। जैसे लकड़ी में डूबने की योग्यता नहीं है तो कोई उसे डुबो नहीं सकता, इसीप्रकार पत्थर को कोई तैरा नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि पर्याय जिसरूप परिणम रही है, वह अपनी योग्यता के अनुसार ही परिणम रही है, मेरे प्रयास से नहीं परिणमी है, यही कारण है कि मरे रोकने से रुकती भी नहीं हैं। मेरा ज्ञान न तो इसका उत्पादन कर सकता है और न इसको रोक सकता है और न नाश ही कर सकता है। लेकिन ज्ञान तो जाने बिना रह नहीं सकता। इसलिये वे पर्यायें ज्ञान में ज्ञेय तो अवश्य बनेंगी, क्योंकि उनमें भी प्रमेयत्वगुण है।

उपरोक्त समस्त स्थितियों को समझकर श्रद्धा में निश्चित होकर जम गया कि मेरे ही असंख्यात प्रदेशों में उत्पन्न होने पर भी तथा ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, इन पर्यायों को न तो मेरी मानने योग्य है और न इनसे ममत्व करने योग्य है। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होते ही ज्ञान उनको जानते समय ही पर के रूप में जानने लगता है। ऐसी स्थिति में वे उत्पन्न भी होती रहें, ज्ञान में ज्ञात भी होती रहें तो भी सहजरूप से उनके प्रति उपेक्षित भाव वर्तता रहता है, ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी उनके जानने के प्रति सहजरूप से उत्साह टूट जाता है; फलतः वे गौणरूप से ज्ञान में ज्ञात होते रहते हैं। ऐसी सहजदशा ज्ञानी को वर्तने लगती है; फलस्वरूप अपना उत्साह त्रिकाली ज्ञायक निज परमात्मा के साथ एकत्व करने के लिये उग्र हो जाता है अर्थात् रुचि और भी उग्र हो जाती है। उनपर्यायों के कारण ज्ञानी विचलित होकर अज्ञानी के समान आकुलित नहीं हो जाता तथा अपनी कोई क्षति अर्थात् हानि हो जाना भी नहीं मानता, समभावी बना रहता है। पर्यायों के उत्पाद की स्वतंत्रता एवं मेरे त्रिकालीध्रुव से भिन्न होने के ज्ञान-श्रद्धान के कारण, ज्ञानी तो उन सबसे निरपेक्ष वर्तता रहता है, उनके विपरीत परिणमन में द्वेष नहीं होता एवं अनुकूल परिणमन में उनके प्रति राग भी नहीं होता। ज्ञानी तो अपने ज्ञायक परमात्मा की अस्ति

की मस्ती में तृप्त-तृप्त बना रहता है। जगत के सभी पदार्थ अपनी पर्यायों सहित ज्ञान के लिये ज्ञेय होते हुये भी उनमें से जो भी ज्ञात हो रहे हों, उन सबके परिणमन के प्रति (पानी के ऊपर तेल के तैरने के समान) अलिप्तभाव से वर्तता रहता है अपने ज्ञायक भाव की ऊर्ध्वता-अधिकता कभी भी कम नहीं होती।

उपरोक्त सहजदशा वर्तते हुये ज्ञानी पुरुष को, इन्द्रिय विषयों के प्रति, अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के प्रति, उपेक्षावृत्ति वर्तने से, कषायें भी मंद बनी रहती हैं, फलतः सहज शुभ भावों की प्रचुरता भी हो जाती है। फलतः लौकिक जीवन भी सात्विक वर्तने लगता है, अन्याय वर्तन एवं अभक्ष्य भक्षण, सप्त व्यसन सेवन आदि के भाव सहज ही उत्पन्न नहीं होते, आत्मार्थी का ऐसा जीवन सहज हो जाता है। पर्याय के उत्पादन की स्वतंत्रता जानने से उसको स्वच्छन्दता तो होती नहीं वरन् पर्याय के प्रति कर्तृत्व बुद्धि भी विसर्जित हो जाती है। सम्यक्त्व सन्मुख आत्मार्थी अपने विकल्पात्मक ज्ञान में इसीप्रकार का वस्तुस्वरूप समझकर, निर्णय कर अपनी परिणति ऐसी बनाने के लिये यथार्थ पुरुषार्थ करता है, इस ओर रुचि को एकाग्र करता है।

सद्भूत अनुपचरित व्यवहार के विषय से भेदज्ञान

आत्म द्रव्य में ही बसनेवाले तथा आत्मा के ही स्वभाव ऐसे अनन्त गुण सभी आत्मा में त्रिकाल रहने वाले होने से सद्भूत भी हैं एवं उनमें किसी का उपचार भी नहीं है अर्थात् वे आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते; फलतः अनुपचरित भी है। लेकिन मैं तो अनन्तगुणों का स्वामी-अभेद-अखण्ड पिंड हूँ। गुण विशेष जितना तो मैं हूँ ही नहीं, तो अपने को किसी भी गुण जितना कैसे मान सकता हूँ। लेकिन फिर भी वे अभेद त्रिकाली ज्ञायक भाव नहीं होने से स्व के रूप में मानने योग्य नहीं होने से

व्यवहार नय के विषय हैं। फलतः जिन कारणों से वे सब मैं अथवा मेरे माने जाने योग्य नहीं हैं, उन अपेक्षाओं से विचार करके, त्रिकाली ज्ञायक निजपरमात्मा को ही स्व मानता है। परपने की दृष्टि पूर्वक इन सबसे भिन्न, निजपरमात्मा को स्व जानना-मानना वही इनसे भेदज्ञान करना है। ज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान, बिना विकल्प विचार करे सहज रूप से वर्तता रहता है। उपरोक्त सभी ज्ञान में ज्ञात होते हुये भी, आत्मा को, अपने निजपरमात्मस्वभाव की ऊर्ध्वता पूर्वक, उन सबके प्रति परपने की श्रद्धावर्तने से, उनकी गौणता वर्तती रहती है, फलतः उनका जानना भी उपेक्षित भाव से गौणता पूर्वक होता रहता है। उनमें निजत्वपना नहीं रहता, ऐसी दशा ज्ञानी की सहज रूप से वर्तती रहती है। ज्ञानी की निम्नकारणों से उनमें निजत्व बुद्धि नहीं होती।

मेरे में ही बसने वाले, मेरे ही अवयव अर्थात् अंग ऐसे अनन्त गुण जो कि मेरे समान त्रिकाल एकरूप ही रहते हैं एवं मेरे समान ही परिपूर्ण एवं शुद्ध-निर्मल भी हैं। लेकिन इन सब विशेषताओं सहित होते हुये भी इनका अस्तित्व संख्या अपेक्षा अनन्त है। लेकिन मेरा अस्तित्व तो अनेक नहीं होकर एक ही है, अतः इनमें से मैं किसको मेरा मानूं, क्योंकि सभी तो मेरी ही भांति के (मेरे समान) ही हैं। इस कारण मेरा उपयोग तो इन सबमें अपना अस्तित्व खोजने, मानने के लिये भ्रमण करता ही रहेगा, उनमें ज्ञप्ति का परिवर्तन होता ही रहेगा तो मुझे शांति कैसे प्राप्त होगी ? मैं तो एक स्वभावी एक हूँ जिसमें अनन्त अनेकताऐं बस रही हैं; उन अनंत विशेषताओं (गुणों) को पीकर एक हो गया, ऐसा अभेद और एक स्वभावी ज्ञायक परमात्मा मैं हूँ। अतः इन सबको मैं, अपनेरूप में स्वीकार नहीं कर सकता। इसप्रकार ये सब गुण ज्ञान में ज्ञात होते हुये भी, ज्ञानी को उनके प्रति एकत्व अर्थात् निजत्वभाव नहीं होता, फलतः ज्ञानी को वे सब भी ज्ञान में गौण रूप

से ज्ञात होते रहते हैं, उनके जानने के प्रति भी उत्साह नहीं रहता फलतः तत्संबंधी आकुलता भी नहीं वर्तती। ज्ञानी की तो अपने निजपरमात्मा में ही अहंबुद्धि बनी रहती है। उसका जानना-मानना स्पष्ट रहता है कि मैं तो इन अनन्त गुणों को भी पीकर, सबको पचाकर एकरूप विद्यमान हूँ, इन सबका स्वामी तो मैं स्वयं हूँ अतः मुझे उनको जानने का भी उत्साह क्यों होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता।

इसीप्रकार मेरे सभी गुणों के निर्मल परिणमन अर्थात् पर्यायें अपने गुणों के समान हैं, जिनमें से समस्त विपरीतताऐं नष्ट होकर निर्मल हो गई हैं और अपने स्वाभाविक गुणों के स्वभावों को प्रकाशित कर रही हैं। गुणों के स्वभावों का प्रगटीकरण (व्यक्त करने का कार्य) पर्याय ही करती हैं। उन स्वभावों की पूर्णता एवं निर्मलता कैसी है और कितनी है, उसको प्रकाशित करने का कार्य पर्याय बिना नहीं हो सकता। ऐसी परिपूर्ण और निर्मल परमउपकारी स्वाभाविक पर्यायें भी मेरी अथवा मेरेरूप मानने योग्य नहीं हैं। असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय के विषय हैं, कारण वे सभी अनेक होते हुये भी अनित्य एवं उत्पाद-व्यय स्वभावी क्षण-क्षण में बदल जाने वाली हैं और मैं तो अभेद-अखण्ड, अविनाशी एकरूप रहनेवाले स्वभाव वाला हूँ। मेरे और पर्याय के स्वभाव में भिन्नता है, साथ ही उनके स्वामी तो उन-उनके गुण हैं और मैं तो अनंतगुणों का स्वामी अकेला एक ही हूँ और ये पर्यायें तो अनेक ही नहीं वरन् समय-समय नवीन-नवीन उत्पन्न होने की अपेक्षा गुणों से भी अनन्तानन्त गुणी हैं। अतः ये मेरी मानने योग्य किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। उपरोक्त कारणों से इन पर्यायों को तो मेरा माना जाना असम्भव ही है, अर्थात् इस अपेक्षा वे मेरे ही क्षेत्र में उत्पन्न होते हुये भी तथा स्वभाव से विपरीत नहीं होने पर भी मेरी मानने योग्य नहीं हैं, पर ही हैं, परपने ही मानने योग्य हैं, अतः वे

निर्मल पर्यायें भी असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय के विषय होने से पर हैं, स्व नहीं हैं; मैं तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ, मात्र एक, अविनाशी, पूर्ण, निर्मल, अभेद-अखण्ड ध्रुवस्वभावी ज्ञायक तत्त्व हूँ, अन्य कोई भी कैसा भी हो तो भी मैंपने अथवा मेरा मानने योग्य नहीं हैं।

उपरोक्त प्रकार के विचारों के द्वारा सम्यक्त्व सन्मुख आत्मार्थी अपने विकल्पात्मक ज्ञान में उन सबकी ओर जाने वाली अपनी वृत्ति को उग्र रुचि पूर्वक दृढ़ता से समेटकर, एक ज्ञायक तत्त्व में सीमित कर लेता है। उसमें अपनापना दृढ़तापूर्वक हो जाने से, उसमें एकाग्र होकर लीन हो जाने का पुरुषार्थ करता है।

अपनी वृत्ति, एवं उपयोग को बाहर ही बाहर रोकने वाले बाधक तत्त्व अपने ही पूर्ण एवं निर्मल त्रिकाली अनन्तगुण एवं उनकी अनन्तपर्यायों की सन्मुखता थी, उन सबकी ओर से उपरोक्त प्रकार से अपनी वृत्ति को अपने में समेट लेता है अपने श्रद्धा और ज्ञान के उपरोक्त निर्णय के बल से अब वृत्ति उस ओर जाने के लिये उत्साह हीन हो गई। इनके ज्ञात होने पर भी उपेक्षित भाव से जानता रहता है, फलतः वे सभी ज्ञान में गौण रहते हुये वर्तते रहते हैं और वृत्ति अपने त्रिकाली ज्ञायक जो इनका भी स्वामी है उसमें सिमट जाने से रुचि अत्यन्त उग्र होकर तन्मय होने के पुरुषार्थ में संलग्न हो जाती है।

भेदज्ञान का फल –

अभेदता कहां व कैसे हो जाती है ?

प्रश्न :– जब अनन्तगुण एवं उनकी निर्मल व परिपूर्ण पर्यायों का समूह (समुदाय) ही मेरा आत्मा है, तो वे भेद मेरे अनुभव के लिये बाधक क्यों बनने चाहिये ?

समाधानः– ज्ञान के लिये बाधक तो कोई भी नहीं होता,

क्योंकि ज्ञान का कार्य तो सबको जानना है। लेकिन जब तक ज्ञान के सामने अनेक ज्ञेय होंगे तो ज्ञान किस में अपनापन कर सकेगा ? अतः उन अनेकों को अपना मानना बाधक हो जावेगा; ज्ञान में ज्ञात हो जाना मात्र बाधक नहीं है। उपरोक्त प्रकरण भलीप्रकार समझ में आजाने पर तो, अपने ही गुण पर्यायों के भेदोंसम्बन्धीअनेकता में मेरापना नहीं रह जाना चाहिये। ज्ञान में ज्ञेयपने ज्ञात होना तो ज्ञान को स्थिर (एकाग्र) नहीं होने देता; एकाग्रता के बिना चारित्र अपेक्षा की तन्मयता नहीं हो पाती और उसके बिना आत्मा को निराकुलता रूपी अतीन्द्रिय शांति नहीं मिलती। इसलिये ज्ञेयों की अनन्तता भी समाप्त होकर मात्र एक स्वज्ञेय में एकत्व कैसे हो जावे ? वह पद्धति (उपाय) समझना आवश्यक है।

आत्मा में गुण तो अनन्त हैं और वे सब ही अपनी अपनी सामर्थ्य से परिपूर्ण हैं, उन सबकी अपनी अपनी सामर्थ्य भी अमर्यादित है। अतः उन सभी गुणों में कोई भी गुण हीन अथवा अधिक नहीं है। उन सब गुणों में एक ज्ञान गुण भी है, उसकी भी सामर्थ्य अमर्यादित है, स्व (ध्रुव) के आश्रयपूर्वक जब शुद्ध एवं पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, तो गुणों का जितना सामर्थ्य है, वह पर्याय में प्रगट हो जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से उसकी हर समय की हर पर्याय स्व के पूर्ण वैभव को (आत्मा में बसी अनन्त शक्तियों को) जानती है, अपनी वर्तमान पर्याय के साथ ही अपनी भूत-भविष्य की पर्यायों को भी जानती है, इसके अतिरिक्त अन्य भी जितने भी जानने योग्य पदार्थ अर्थात् विश्व के जाति अपेक्षा छह प्रकार के संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्य, उन सब के गुण एवं सबके हर समय के भूत, भविष्य एवं वर्तमान समस्त परिणमन अर्थात् पर्यायें, उन सबको मात्र एक समय में जानती है; इतनी महान सामर्थ्य एक समय की पूर्ण विकसित

ज्ञान पर्याय की है। ऐसी ऐसी पर्यायें सादि अनन्त काल तक होती रहें तो भी गुण में कोई कमी नहीं आवे, ऐसी अपार महिमा एक ज्ञान गुण की है। ऐसे-ऐसे अलग-अलग अपने-अपने सामर्थ्यों को रखने वाले अनंत गुण इस आत्मा में भरे हुऐ हैं। इसप्रकार के अनंत प्रकार के, अपार सामर्थ्यों का भी स्वामी ऐसा मेरा आत्मद्रव्य है। उस आत्मद्रव्य में अपने-अपने अनन्त सामर्थ्यों के धारक सभी गुण एवं पर्याय अभेद होकर ज्ञान की एक समय की पर्याय में समाजाते हैं–डूब जाते हैं एवं बने रहते हुऐ वर्तते रहते हैं और आत्मा अत्यन्त गंभीर-शान्त-निराकुल रहता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में डूबा रहता है। ऐसी ऐसी अचिंत्य, अपूर्व, अपार, महान् सामर्थ्यवान् (जैसा कि सिद्ध भगवान का आत्मा है) वैसी ही सामर्थ्य का धारक वर्तमान में मेरा ध्रुवतत्व है, और वही मैं हूँ। ऐसे महान् सामर्थ्यवान ध्रुवतत्त्व में मेरी श्रद्धा एवं ज्ञान गुण की पर्याय जिससमय भी स्वपना स्थापन करेगी, और सभी प्रकार के अन्य परज्ञेय मात्र में परपना स्थापन कर, परिणमन करेगी; तो स्वज्ञेय में एकत्व होते ही उपरोक्त समस्त महान् सामर्थ्यों-शक्तियों- विशेषताओं का स्वामी ही शुद्ध परिणमन करने लगेगा एवं स्वज्ञेय में बसने वाली समस्त विशेषताऐं भी अभेद होकर, ज्ञान में ज्ञात हो जावेंगी। जैसे एक विशाल राज्य के स्वामी ऐसे राजा को एक को ही जीत लेने मात्र से समस्त राज्य का स्वामीपना प्राप्त हो जाता है ; एक-एक को जीतना आवश्यक नहीं रह जाता, इसीप्रकार अकेला ज्ञायक सबका स्वामी है, वह ज्ञान में प्रगट होते ही, आत्मा की समस्त विशेषताऐं अभेदरूप से आत्मा में वर्तने लगती हैं। निष्कर्ष यह है कि उपरोक्त प्रकार से हमारी स्वलक्ष्यी–सम्यक् श्रुतज्ञान की एक समयवर्ती पर्याय में उपरोक्त सभी भेद, अभेद होकर ज्ञान में ज्ञात होने लगते हैं इसप्रकार सबकी अभेदता होकर ज्ञात होना ही, अनेकों में एकता, भेदों से अभेदता हो जाती है।

फलतः ज्ञेय परिवर्तन का अभाव होकर, वीतरागता का उत्पादन होने लगता है। इसलिये यही वास्तव में मोक्ष का उपाय है। उपरोक्त विषय को समर्थन करनेवाले निम्नप्रकार के आगम प्रमाण हैं।

ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों के द्रव्य एवं पर्यायों की अनादि अनंतता एवं उन सबको जानने वाले ज्ञान का सामर्थ्य त्रिकालज्ञता बताने वाली प्रवचनसार की गाथा 36 की टीका के अंश निम्न प्रकार हैं :–

"ज्ञेय, वर्तचुकी, वर्त रही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से अनादिअनन्त ऐसा द्रव्य है (आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं) वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर (स्व और पर) ऐसे दो भेद से दो प्रकार का है। ज्ञान स्वपर ज्ञायक है, इसलिये ज्ञेयकी ऐसी द्विविधता मानी जाती है।"

"आत्मा और द्रव्य समय-समय पर परिणमन किया करते हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं ; इसलिये आत्मा ज्ञान स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय स्वभाव से परिणमन करते हैं, इसप्रकार ज्ञान स्वभाव में परिणमित आत्मा ज्ञान के आलम्बनभूत द्रव्यों को जानता है और ज्ञेयस्वभाव से परिणमित द्रव्य ज्ञेय के आलम्बनभूत ज्ञान में आत्मा में ज्ञात होते हैं ।।36।।"

ज्ञाता के ज्ञान पर्याय में समस्त ज्ञेय अभेद होकर ऐसे समा जाते हैं जैसे ज्ञान ज्ञेयों को मूल से उखाड़कर खा गया हो, फिर भी वे ज्ञान में विद्यमान रहते हैं, ऐसे बताने वाली प्रवचनसार गाथा 29 व 49 की टीका के अंश इस प्रकार हैं :–

"ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्वप्रदेशों से अस्पर्श करता है, इसलिये अप्रविष्ट रहकर(जानता-देखता है) तथा शक्तिवैचित्र्य के

कारण वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मानों मूल में से उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है इसप्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है।।29।।"

"ज्ञान और ज्ञेय, आत्मा की ज्ञान की अवस्था में परस्पर मिश्रित–एकमेकरूप होने से उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से मानो सब कुछ आत्मा में निखात (प्रविष्ट) हो गया हो इसप्रकार प्रतिभासित होता है–ज्ञात होता है (आत्मा ज्ञानमय होने से वह अपने को अनुभव करता है–जानता है, और अपने को जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं–मानों वे ज्ञान में स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञान की अवस्था में से ज्ञेयाकारों को भिन्न करना अशक्य है।) यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध न हो।।49।।"

त्रिकाली ज्ञायक के लक्ष्य से उत्पन्न हुई ज्ञान पर्याय, स्व में बसी हुई अनन्त शक्तियों (धर्मों-सामर्थ्यों) को एक समय में ही जान लेती हैं, फलतः उस ज्ञान पर्याय की जानन क्रिया में अनंत शक्तियाँ अभेद होकर जानने में आती हैं। ऐसा समयसार के परिशिष्ट के पृष्ठ 669 पर निम्नप्रकार आया है :–

"परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदाय रूप से परिणमित जो एक जानन क्रिया है उस जाननक्रिया मात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिये) आत्मा को ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञान मात्र एकभाव की अन्तःपातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षण भेद से भेद होने पर

भी, प्रदेश भेद नहीं है ; आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिये आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियां रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भाव में–ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में–अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।)''

समयसार कलश 264 के भावार्थ में भी उपरोक्त विषय का निम्नप्रकार समर्थन किया है :–

''वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप पर्यायें तथा अक्रमरूप गुण अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है, फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारण भाव है, उसे नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएं-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।''

पू॰ श्री कानजी स्वामी ने प्रवचन रत्नाकर हिन्दी भाग 6 के पृष्ठ 229 में भी निम्नप्रकार कहा है :–

"भेद अभेद में ही अन्तर्गर्भित रहते हैं, भले ही वे पर्याय की शुद्धतारूप विशेष हैं; तथापि वे हैं तो अभेद की एकाग्रता में ही न, वे भेद, अभेदस्वरूप वस्तु को भेदरूप नहीं करते।"

इसप्रकार आत्मा में बसी हुई अनन्त शक्तियां ज्ञानी को एक साथ सम्मिलितरूप होकर ही परिणमती रहती हैं तथा उसका अनंतगुणों का अभेदरूप वेदन अर्थात् स्वाद भी एक ही आता है।

अनन्तगुणों के परिणमन में ज्ञान का परिणमन भी सम्मिलित है; अतः अनन्तगुणों की अभेदता का ज्ञान भी उसी ज्ञान पर्याय में आ रहा है। अनन्तगुणों में स्व-परप्रकाशक अकेला एक ज्ञानगुण ही है। इसलिए अपने स्व-प्रकाशक ज्ञान में आत्मा के परिणमन एवं स्वाद की अभेदता का ज्ञान आत्मा को होता है। इसप्रकार ज्ञान में गुणों की अभेदता होती है। ज्ञान गुण ने अथवा उसकी पर्याय ने न तो गुणों के

भेदों को अभेद किया है और न कर ही सकती है, मात्र जान ही सकती है, लेकिन उपचार से कह दिया जाता है कि ज्ञान में भेद अभेदता को प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार जब ज्ञान का विषय एकमात्र अभेद अखंड त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा ही रह जाता है, तब श्रद्धा भी उसमें ही अपनापना स्थापन कर लेती है और अन्य सभी ज्ञेय पर के रूप में रह जाते हैं और श्रद्धा में पर होने के कारण उपेक्षणीय बने रहते हैं।

जब ज्ञानी पुरुष को इसप्रकार का अभेद स्वाद (वेदन) आता है, तब उसकी दशा निर्विकल्प ही होती है; अगर ज्ञानी उस अभेद परिणमन अथवा स्वाद में भेद करेगा तो उसकी दशा निर्विकल्प नहीं रहकर विकल्पात्मक हो जावेगी। लेकिन ज्ञानी को तो अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद ही चाहिये; इसलिये ऐसे भेद विकल्प करने में उसका उत्साह नहीं रहता, वरन् उपेक्षा बुद्धि वर्तने लगती है।

फिर भी ज्ञानी को स्वयं की चारित्र संबंधी निर्बलता होने के कारण विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं; लेकिन उसको तो ऐसी मान्यता (श्रद्धा) होती है कि यह विकल्परूपी पर्याय का उत्पादक मैं नहीं हूँ तथा ये मेरी भी नहीं है; यह तो एक समय का स्वतंत्र सत् है, अपने कारण से उत्पन्न हुआ और अपने ही स्वकाल में व्यय हो जावेगा। मेरे ज्ञान में तो मेरे ही ज्ञेयाकार ज्ञात हुए हैं, साथ ही श्रद्धा में पर उपेक्षणीय रहने से, ज्ञान में भी गौण वर्तते रहते हैं और त्रिकाली ज्ञायकभाव में स्वपना निश्चल बना रहता है। चारित्र संबंधी निर्बलता भी क्रमशः क्षीण होती जाती है; फलतः गुणस्थान वृद्धि भी होती जाती है; इसीप्रकार क्रमशः पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मवस्तु तो स्वभावतः अनंत गुण के भेदों सहित अखंड-अभेद एक वस्तु है। वस्तु अभेद एक होने से उसका परिणमन भी अभेद एक ही होता है और उसका स्वाद (अनुभाग) भी

अभेद एक ही आता है, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही है। अज्ञानी को ऐसे वस्तुस्वरूप की समझ एवं विश्वास (श्रद्धा) नहीं होता। श्रद्धा नहीं होने से अभेद वस्तु में भेद की कल्पनाओं संबंधी निरर्थक विकल्प करता रहता है लेकिन मैं स्वयं ही अभेद-अखंड त्रिकाली ज्ञायक स्वभावी हूँ ऐसा स्वीकार कर, उसी में अपनापन स्थापित नहीं करता हुआ, परिभ्रमण करता रहता है।

इसप्रकार छद्मस्थ ज्ञानी भी निर्विकल्प दशा के काल में तो सिद्ध भगवान के आनंद का अंशतः स्वाद लेता है। वास्तव में उसके ज्ञान में भी स्व-पर-प्रकाशकता उसीकाल प्रगट होती है। वास्तव में तो उसकाल वह साक्षात् सिद्ध भगवान जैसा हो जाता है।

ज्ञानी की उपरोक्त परिणति की समझ का तथा विशेषकर तद्रूप परिणमन करने की उग्ररुचि का पुरुषार्थ करके, सम्यक्त सन्मुख आत्मार्थी भी ज्ञानी बन जाता है।

छद्मस्थ भी निर्विकल्पदशा में सिद्ध समान कैसे?

प्रश्न :– सिद्ध भगवान का ज्ञान तो अपने आत्मा के अतिरिक्त समस्त लोकालोक को भी जानता है; लेकिन छद्मस्थ ज्ञानी का ज्ञान स्व-पर प्रकाशक हो जाने पर भी, पर को तो सिद्ध जैसा नहीं जान सकता ? फिर उसको निर्विकल्पदशा में भी सिद्ध भगवान जैसा कैसे कहना चाहिये ?

समाधान :–प्राणी मात्र सुख चाहता है; उस सुख की पराकाष्ठा को भोगने वाले सिद्ध भगवान हैं। अगर छद्मस्थ ज्ञानी को उस सुख अर्थात् आनंद का नमूना वेदन में नहीं आवे तो उसकी श्रद्धा में निःशंकता कैसे होगी ? एवं रुचि, उस स्वाद को निरंतर बनाये रखने का पुरुषार्थ कैसे करेगी। ज्ञानी छद्मस्थ होने से तथा चारित्र अति मंद होने से, उसकी निर्विकल्पदशा का काल तो अल्प रहता है; फलतः उसदशा

से बाहर आते ही उसको सिद्ध भगवान के आनन्द का नमूना जो अनुभव अर्थात् वेदन में आया था, उसका तो विरह हो जाता है; ऐसी स्थिति आने पर ज्ञानी उस आनन्द को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिये उग्र पुरुषार्थ करता है।

तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ ज्ञानी को सिद्ध भगवान के आनंद की जाति की अपेक्षा समानता बताई है, ज्ञान के विषय की अपेक्षा नहीं। उसके साथ सभी गुण भी अपनी अपनी योग्यतानुसार आत्मसन्मुख हो जाते हैं फलतः निर्विकल्प अनुभूति होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सभी गुण क्षायिक के समान हो जाते हैं।

छद्मस्थ के और सिद्ध के ज्ञान में अंतर क्यों व क्या ?

आत्मा के सन्मुख होने वाले सभी गुणों में ज्ञान भी है। ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक होने से ज्ञानी-अज्ञानी सभी के ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है लेकिन अज्ञानी को तो अनादि काल से पर में ही अपनेपन की श्रद्धा वर्तने से पर को ही स्व मानता है और उनही में किसी को स्व एवं किसी को पर मानकर, ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव का दुरुपयोग करता रहता है। जिसको स्व मान लिया उसीको स्व के रूप में ज्ञान भी जानता है एवं जिसको पर मान लेता है उसको पर के रूप में ज्ञान भी जानता है। लेकिन अज्ञानी ने तो पर को स्व माना है, यह तो उसकी मान्यता (श्रद्धा) का दोष है, इसमें ज्ञान को तो दोषी नहीं कहा जा सकता। ज्ञान ने तो श्रद्धा का ही अनुसरण करके स्व-पर को जानने का ही कार्य किया है।

ज्ञानी की मान्यता अर्थात् श्रद्धा तो अज्ञानी की श्रद्धा से बिल्कुल विपरीतरूप से कार्य करती है। यही कारण है कि ज्ञानी के परिणमन और अज्ञानी के परिणमन में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर वर्तता है। ज्ञानी ने तो एक मात्र अपने त्रिकालीज्ञायकभाव को, जो कि वास्तव में

आत्मा का स्वरूप है, उसको ही स्व के रूप में स्वीकार किया है, श्रद्धा पूर्वक मान्यता में दृढ़ता के साथ निश्चित किया है। जिसमें अपनत्व होता है, उसमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वभाव सहजरूप से वर्तने लगता है। सम्यक्त्वसन्मुखजीव को भी जबतक अपने त्रिकाली आत्मा का दर्शन नहीं होता, तबतक वह भी जिनवाणी के अध्ययन, सत्समागम एवं गुरु उपदेश पूर्वक आत्मा के स्वरूप को समझकर चिंतन-मनन द्वारा अपने अनुमान ज्ञान में उपरोक्त आत्मस्वरूप का ही निर्णय करता है; रुचि की उग्रतापूर्वक उसी ओर प्रवर्तने लगता है फलस्वरूप निर्विकल्प-दशा प्राप्तकर स्वसंवेदन पूर्वक आत्मदर्शन कर लेता है। उसका निर्णय होता है कि मेरे ज्ञान में आती हुई ये पर्यायें तो अनित्य स्वभावी हैं, अतः ये तो मैं हो ही नहीं सकता। मैं तो त्रिकाली अस्तित्व रखने वाला ध्रुवभाव हूँ। अतः पर्यायों में एवं पर्यायगतभावों में अपनेपन की मान्यता को दृढता के साथ समाप्तकर उनका स्वामित्व भी छोड़ देता है और उनके परिणमन के भार से निर्भार हो जाता है।

आत्मार्थी अपने विकल्पात्मक ज्ञान से ध्रुवतत्त्व में भी आकर्षण का कारण ढूंढता है; क्योंकि अपने में आकर्षण हुए बिना, पर्यायों की ओर का आकर्षण (मेरापना) छूटेगा नहीं। अतः निर्णय करता है कि मेरे जैसा ही ध्रुवतत्त्व सिद्धभगवान का भी तो है। जगत की सभी वस्तुऐं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत् हैं। इसलिए सिद्ध भगवान भी ऐसे ही सत् हैं। उनके ध्रुव जैसा ही मेरा भी ध्रुव है; इसलिये मेरी पर्याय को गौण करके देखूं तो मैं तो स्वयं सिद्ध ही हूँ। इस अपेक्षा तो मेरा द्रव्य एवं सिद्ध भगवान का द्रव्य समान है। पर्याय में जो अंतर है वह मेरी जानकारी में है लेकिन उसमें मेरापन नहीं है। दोनों की पर्यायों को गौण करके देखूं तो ध्रुवतत्त्व तो मेरा और सिद्ध भगवान का समान ही है।

ध्रुव की सामर्थ्य का विश्वास कैसे हो ?

प्रश्न :– मेरे ध्रुव की सामर्थ्य का श्रद्धान कैसे होवे ?

समाधान :– प्रथम अपने चिंतन-मनन पूर्वक तर्क एवं युक्तियों के माध्यम से निर्णय करे कि सिद्ध भगवान का ध्रुव कैसा है ? ध्रुव तो अव्यक्त रहता है लेकिन पर्याय व्यक्त रहती है, इसलिए सिद्ध की पर्याय को ज्ञान में लेने से उनके ध्रुव का भी ज्ञान हो सकता है; क्योंकि दोनों समान हैं। उनके ध्रुव में जो भी सामर्थ्य था, वह पूर्णरूप से पर्याय में प्रगट हो गया, उनको ध्रुव और पर्याय का अंतर समाप्त होगया। वह विचारता है कि उनकी पर्याय क्षायक हो जाने से सभी प्रकार से पूर्ण और निर्मल हो चुकी है; ऐसी अत्यन्त स्वच्छ पर्याय ध्रुवतत्त्व के वास्तविक स्वरूप के दर्शाने के लिये दर्पण के समान है। सिद्ध भगवान के ध्रुव तत्त्व में जो कुछ भी जैसा भी सामर्थ्य था वह सब का सब पर्याय में प्रगट हो गया। इससे निर्णय में आता है जो कुछ भी उनकी पर्याय में प्रगट है, वही मेरे ध्रुवतत्त्व का स्वरूप है। इसप्रकार अनुमान ज्ञान से अपने ध्रुवतत्त्व का सामर्थ्य एवं स्वरूप अनुभूति के पूर्व ही छद्मस्थ आत्मार्थी को निर्णय में आ जाता है। ऐसा स्पष्ट स्वरूप निर्णय में आते ही आत्मार्थी की रुचि अत्यन्त उग्र हो जाती है; क्योंकि सफलता प्राप्त होने पर तो रुचि में उग्रता आये बिना रह ही नहीं सकती। इसप्रकार निर्णय एवं रुचि की उग्रता के बल से आत्मानुभूति प्राप्तकर वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

इसप्रकार श्रद्धा यथार्थ होते ही ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। जो ज्ञान अज्ञानदशा में स्व को जानता ही नहीं था, वही ज्ञान अब सिद्ध समान अपने ध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में जानने मानने लग जाता है और समस्त ज्ञेयों को अपने से भिन्न पर के रूप में जानने मानने लग जाता है। तब रुचि का वेग अकेले स्व की ओर अग्रसर हो जाता है।

आत्मा के ज्ञान के साथ ही आत्मा के अन्य समस्त गुण भी आत्मसन्मुख हो जाते हैं फलस्वरूप आत्मा के सभी गुण आंशिक तन्मय होकर परिणमने लगते हैं; और आनन्दानुभूति उत्पन्न हो जाती है।

उस समय ज्ञान में परज्ञेयों का ज्ञान भी विद्यमान रहता है, लेकिन छद्मस्थ ज्ञानी का ज्ञान क्षायोपशमिक होने से जब उपयोगात्मक स्व को जानता है तब पर संबंधी ज्ञान लब्धि में वर्तता रहता है। लेकिन श्रद्धान में परज्ञेयों के प्रति परपना होने से, उपेक्षितरूप से (गौणपने) ज्ञान में ज्ञात होते रहने पर, रुचि के अभाव में उपयोग को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिये आत्मानुभूति में बाधक भी नहीं बन पाते। फिर भी अनुभूति में नहीं ठहर सकने के कारण, चारित्र की निर्बलता से जब उपयोग पर ज्ञेयों की ओर सन्मुख होता है तो, परपने की श्रद्धा होने से आत्मा के अन्यगुणों का सहयोग ज्ञान को नहीं मिल पाता इसलिये उनमें एकत्व नहीं हो पाता; फलतः परसन्मुखता क्रमशः तोड़ता हुआ चारित्र की वृद्धि करता रहता है।

सिद्ध भगवान क्षायिकज्ञान द्वारा अपनेपने सहित स्व को जानते हैं और छद्मस्थ ज्ञानी भी क्षायोपशमिकज्ञान द्वारा अपनेपन सहित ही स्व को जानता है। इसप्रकार दोनों ही एक अपने त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा को ही अपनेपन सहित जानते हैं। सिद्धभगवान जानने के साथ पूर्ण तन्मय भी हो जाते हैं, ज्ञानी अपनी भूमिकानुसार आंशिक तन्मय होते हैं। लेकिन दोनों के स्वप्रकाशकज्ञान का विषय अपनेपन की श्रद्धा सहित एक ही होता है; प्रत्यक्ष परोक्ष और आंशिक व पूर्णता का अन्तर तो जानने वाली पर्याय की सामर्थ्य का है; जानने के विषय में तो कोई अन्तर नहीं है। पर सम्बन्धी ज्ञान तो सिद्धभगवान को भी परत्वपूर्वक एवं अतन्मयता पूर्वक ही होता है और छद्मस्थ ज्ञानी को भी परपने की श्रद्धापूर्वक रुचिरहित जानने से पर में आंशिक

अतन्मयता पूर्वक ही होता है। इस अपेक्षा पर ज्ञेयों को जानने में भी दोनों में समानता है। केवली का ज्ञान क्षायक हो जाने से परत्वपूर्वक लोकालोक को जानता है और छद्मस्थ क्षयोपशमज्ञान द्वारा परत्व पूर्वक अतिअल्पज्ञेयों को जानता है; जो अपने हैं ही नहीं उनमें से कम को जानना अथवा अधिक को जानना, सुखी होने के लिए प्रयोजनभूत है ही नहीं; क्योंकि पर को जानना तो दोनों का ही भूमिकानुसार तन्मयता रहित होता है। इस अपेक्षा भी दोनों की समानता है। लेकिन छद्मस्थ ज्ञानी को इसप्रकार की उपयोगात्मक समानता तो निर्विकल्प दशा के काल में ही रहपाती है, इस विषय का समर्थन परमात्मप्रकाश की गाथा 5 की टीका से होता है जो इसप्रकार है –

"जो निश्चयकर अपने स्वरूप में स्थित हैं और व्यवहारनयकर सब लोकालोक को निःसंदेहपने से प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु उन पदार्थों में तन्मयी नहीं हैं, अपने स्वरूप में तन्मयी हैं। जो परपदार्थों में तन्मयी हों, तो पर के सुख दुःख से आप सुखी दुःखी होंवें, ऐसा उनके कदाचित् नहीं हैं। व्यवहारनय कर स्थूलसूक्ष्म सब को केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं, किसी पदार्थ से राग द्वेष नहीं है। यदि राग के हेतु से किसी को जाने, तो वे राग द्वेषमयी होवें, यह बड़ा दूषण है, इसलिए यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूप में निवास करते हैं पर में नहीं।"

तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान को अपने त्रिकाली ज्ञायक में अपनापन तो पूर्ण है ही, साथही उनके अनंतगुण भी स्व लक्ष्यी हो गये, अनंतगुणों में ज्ञान एवं सुख भी शामिल रहता है। समस्त गुण सम्पूर्णतया निर्मल और परिपूर्ण होकर सुख और ज्ञान सहित आत्मा में पूर्ण तन्मय हो गये हैं। चारित्र की पूर्णता हो जाने से ऐसे तन्मय हो गये हैं कि कोई भी गुण बाहर निकलता ही नहीं इसलिये अनन्तकाल

तक आत्मानंद में मग्न रहते हैं।

लेकिन ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर-प्रकाशक है इसलिये वह स्व के साथ पर को भी जाने बिना रह ही नहीं सकता। सिद्धभगवान का ज्ञान पूर्ण हो चुका अतः अपनी पर प्रकाशकता में ज्ञेयमात्र अर्थात् लोकालोक को जानते अवश्य हैं, लेकिन अपने से पर होने से तथा राग का अभाव हो जाने से तन्मयता रहित जानते हैं फलतः रागादि नहीं होते;एवम् ज्ञप्ति परिवर्तन भी नहीं होता।

इसीप्रकार साधक छद्मस्थ ने भी अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापन तो सिद्ध भगवान के समान ही स्थापित कर लिया है उसके फलस्वरूप अनन्तगुण भी आंशिक आत्मलक्ष्यी हो गये तथा पर ज्ञेय मात्र में परपना हो जाने से उनके प्रति एकत्व, ममत्व, स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व भी सहजरूप से छूट जाता है साथ ही सहजवर्तने वाली उपेक्षाबुद्धि भी आंशिक प्रगट हो जाती है और ज्ञान में आंशिक गौणता भी सहज वर्तने लग जाती है। लेकिन सभी गुण अभी आंशिक ही निर्मल होने से तथा चारित्र मोह संबंधी अस्थिरता वर्तने से अभी स्वस्वभाव में तन्मयता पूर्ण नहीं होती, फलतः ज्ञान भी परज्ञेयों की ओर ढल जाता है और राग के कारण ज्ञप्ति परिवर्तन भी होता रहता है, पूर्ण स्थिर नहीं हो सकता। लेकिन उनके प्रति परपना आ जाने से अज्ञानी जैसी तन्मयता नहीं होती, एकमेक नहीं होता और जितना उनके साथ सम्बन्ध जोड़ता है उतनी आकुलतारूपी दुख का वेदन भी करता है।

निष्कर्ष यह है कि भगवान सिद्ध अपने त्रिकाली भगवान को स्व तरीके जानते व मानते हैं; साधकजीव भी वैसा ही जानता मानता है। सिद्ध भगवान जिसप्रकार तन्मयता पूर्वक स्व को एवं अतन्मयता पूर्वक पर को जानते हैं, उसीप्रकार साधक भी स्व को आंशिक तन्मयता

अर्थात् एकत्व बुद्धि पूर्वक जानता है। सिद्ध भगवान के ज्ञान में पर ज्ञेय के रूप में लोकालोक रहता है, तो भी उसके जानने में तन्मय नहीं होते और साधक के परलक्ष्यी ज्ञान में जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं वे थोड़े भी हों तो भी उनमें पूर्ण एकमेक नहीं हो जाता; इस अपेक्षा सिद्ध भगवान और साधक ज्ञानी दोनों समान हैं। दोनों के परलक्ष्यीज्ञान के विषय में अंतर होने पर भी दोनों का अतन्मयपना तो एक सरीखा ही है। इससे सिद्ध होता है कि संसार का मूल तो पर में अपनापना मानना ही है और स्व में स्वपना प्रारंभ होते ही मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है; फिर भी मोक्षमार्ग की पूर्णता तो तन्मयता की पूर्णता होने पर ही होगी यही इस कथन का सारांश है।

सम्यक् श्रुतज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य

प्रश्न :– साधक का श्रुतज्ञान तो क्षायोपशमिक है, वह सिद्ध के समान स्व–पर को जान लेगा तो क्षायिकज्ञान में और क्षायोपशमिक ज्ञान में अन्तर ही क्या रह जावेगा ?

समाधान :– वास्तव में सम्यक्ता की अपेक्षा तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों समान हैं तथा स्वप्रकाशक ज्ञान के विषय की अपेक्षा भी दोनों में समानता है, लेकिन क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमिक एवं परोक्ष ही जान पाता है और क्षायिक ज्ञान अक्रमिक और प्रत्यक्ष जान लेता है; यही अंतर है । मोक्षमार्ग तो अपने स्वरूप का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और चारित्र की एकता पूर्वक ही होता है इसलिए अपने त्रिकालीभाव में अपनेपन का श्रद्धान-ज्ञान आचरण मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है। ज्ञानी को मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाने से इस अपेक्षा भी दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता, समानता है।

प्रवचनसार की गाथा 33 की टीका एवं भावार्थ से इसका समर्थन प्राप्त होता है :–

"जैसे भगवान युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेष-युक्त केवलज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं; उसीप्रकार हम भी, क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषों से युक्त श्रुत ज्ञान के द्वारा अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं। इसलिये विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, हम तो स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।"

भावार्थ का अंश :– "केवली और श्रुतकेवली में इतना मात्र अन्तर है कि जिसमें चैतन्य के समस्त विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं ऐसे केवलज्ञान के द्वारा केवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं और जिसमें चैतन्य के कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं।"

समयसार की गाथा 143 की टीका का भी यही तात्पर्य है, उसका भावार्थ निम्नप्रकार है :–

"जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञातादृष्टा) हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं, यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्र मोह का राग रहता है; और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप

को मात्र जानते ही हैं तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं ऐसा जानना।"

पूज्य श्री कानजीस्वामी ने हिन्दी प्रवचनरत्नाकर भाग 6 के पृष्ठ 228 में भी कहा है :–

"आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो सामान्य-सामान्य त्रिकाल एकरूप है। उसमें एकाग्रता होने पर मतिश्रुतज्ञानादि की अनेक शुद्ध पर्यायें प्रकट होती हैं; परन्तु जो अनेक पर्यायें प्रकट होती हैं, वे इस ज्ञानपद को नहीं भेदती; किन्तु एक ज्ञान सामान्य का अभिनन्दन ही करती हैं अर्थात् उस ज्ञानस्वभाव के एकपने की पुष्टि ही करती हैं। जो मतिज्ञानादि भेद प्रकट हुए हैं, वे सब सामान्य में अभेद होते हैं; इससे उसमें अनेकपना नहीं रहता।"

रुचि का विषय और सामर्थ्य

अनेक पदार्थों के उपस्थित होने पर, जिस किसी पदार्थ विशेष की ओर वृत्ति बारंबार आकर्षित होती हो, ऐसी वृत्ति को रुचि कहा जाता है और आकर्षण का विषय ही रुचि का विषय होता है। ऐसा ज्ञानी अज्ञानी सबको अनुभव में भी है। जैसे कामी पुरुष के समक्ष महिलाओं का समूह हो, उसमें उसकी प्रेमिका भी बैठी हो तो उस पुरुष की वृत्ति बारंबार उसकी ओर ही केन्द्रित रहती है आदि-आदि। इसीप्रकार आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए आत्मार्थी जीव के रुचि का विषय तो एक मात्र सिद्ध स्वरूपी निज आत्मा ही रहता हैं।

आशंका :– सिद्ध भगवान क्यों बनना चाहता है ?

समाधान :– संसार में प्राणी मात्र सुख चाहता है। आकुलता ही दुख है तथा अज्ञानी आकुलता की कमी को सुख भी मानता है, ऐसा सबको अनुभव भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि आकुलता का आत्यन्तिक अभाव अर्थात् निराकुलता ही परम सुख है। जो

अनाकुलतारूपी परमसुख का निरंतर उपभोग करते रहते हैं ऐसे जीव तो मात्र एक अरिहंत अथवा सिद्ध भगवान ही हैं।

इसलिये आत्मार्थी का लक्ष्य एवं रुचि का विषय तो एक मात्र उनके जैसा बनने का ही रहता है। इसप्रकार का निर्णय करने के लिए वह आगम का सेवन, गुरु उपदेश आदि से एवं युक्तियों के अवलम्बन एवं अनुमान आदि के द्वारा, अन्तर में खूब विचार और मंथन करके उपरोक्त निर्णय पर पहुंच कर दृढता के साथ विश्वास में लाता है तब उसकी रुचिका विषय एकमात्र सिद्ध दशा बन जाती है। ऐसी रुचि प्राप्त आत्मार्थी को संसार का अन्य कोई आकर्षण अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता अर्थात् वर्तमान दशा का अभाव कर के मात्र सिद्ध दशा प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। यही होता है, आत्मार्थी की रुचि का सामर्थ्य।

उपरोक्त रुचि प्राप्त आत्मार्थी का अपनी रुचि के विषय को प्राप्त करने का पुरुषार्थ उग्र हो जाता है। सिद्धान्त का वाक्य है, 'रुचि अनुयायी वीर्य' अर्थात् जिसकी रुचि होती है, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ भी उसी ओर कार्यशील हो जाता है। आत्मार्थी के ज्ञान में ज्ञेयों के रूप में अनेकों आकर्षण, आते हैं, उन ज्ञेयों को वह स्व एवं पर के रूप में विभाजित कर लेता है। फिर विचारता है कि इन दोनों में से मेरे आकर्षण का विषय कौनसा है ? मुझे तो सिद्ध भगवान बनना है अतः उनमें सिद्धत्व खोजता है।

जब परज्ञेयों को खोजता है तो उनमें तो मेरे द्रव्य से भिन्न, स्त्री पुत्रादि, शरीरादि तथा द्रव्यकर्म आदि मिलते हैं उनमें तो मेरा सुख हो ही नहीं सकता। क्योंकि ये तो परद्रव्य हैं। तब मेरे लिये खोज का विषय तो मेरा आत्मद्रव्य ही रह गया। उसमें खोजता हूँ तो मेरी पर्यायें मेरे अनुभव में आती हैं, लेकिन वे तो स्वयं आकुलतामय और

आकुलता की ही जननी हैं; अतः इनमें भी मेरा सुख हो ही नहीं सकता। तब फिर मात्र मेरा ध्रुवतत्त्व ही रह जाता है। इसलिए आत्मार्थी को विश्वास हो जाता है कि निश्चितरूप से इसी के आश्रय से मुझे अवश्य सुख मिलेगा। ऐसा विश्वास जाग्रत होते ही उसमें आकर्षण विशेष बढकर रुचि में और भी उग्रता आ जाती है। खोज के बाद सफलता होते ही रुचि का उग्र होना स्वाभाविक ही होता है।

फिर आत्मार्थी को समस्या उत्पन्न होती है कि अनादिकाल से ध्रुव तत्त्व का तो कभी परिचय हुआ ही नहीं, उसमें विश्वास कैसे हो ? उस पर विचारता है कि आत्मा तो निराकुल स्वभावी है ही, क्यों कि आजतक अनन्त सिद्ध भगवान बन चुके हैं और वे पूर्ण निराकुल आनन्द को अनवरतरूप से भोग भी रहे हैं। इसलिये निश्चय होता है कि सुख तो आत्मा में ही है। अतः जब पर्याय में सुख नहीं है तो ध्रुव के अतिरिक्त और कहीं हो भी तो नहीं सकता ? भगवान सिद्ध को जो सुख प्रगट हुआ है वह सुख उनमें नहीं होता तो कहां से आता ? प्राप्त की प्राप्ति तो अवश्य होती है लेकिन जो हो ही नहीं, उसकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? इसप्रकार दृढता के साथ विश्वास करता है तो आत्मार्थी को रुचि का एवं आकर्षण का विषय एक मात्र ज्ञायक अकर्ता स्वभावी ध्रुवतत्त्व ही हो जाता है। उसी में अपनापन स्थापन करलेने से, ज्ञान और चारित्र के साथ ही अनन्त गुण स्वसन्मुख होकर कार्यकरने लग जाते हैं। फिर भी चारित्र की निर्बलता से पूर्ण तन्मय नहीं हो पाता। लेकिन अपना स्वरूप अर्थात् अस्तित्व ही सिद्धस्वभावी ध्रुव मानलेने के कारण रुचि और आकर्षण का केन्द्रबिन्दु एक मात्र अपना सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व हो जाता है। वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ भी उसी ओर कार्यशील रहता है। ऐसी स्थिति में, पर प्रकाशक ज्ञान में पर ज्ञेय ज्ञात तो अवश्य होंगे लेकिन वे आत्मार्थी को आकर्षित नहीं

कर सकते, उपेक्षित रह जाते हैं। फलतः आत्मार्थी की चारित्र संबंधी निर्बलता भी क्रमशः क्षीण होते-होते उसका आत्यन्तिक विनाशकर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है।

ऐसा महान कल्याणकारी सामर्थ्य है रुचि का।

ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की अभेदता

उपरोक्त विषय समझ में आकर निर्णय भी हो जाता है कि सिद्धस्वरूपी अपने अभेद त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपनापन आये बिना एवं रुचि का विषय भी एक मात्र सिद्ध हुये बिना, श्रद्धा की प्रगटता ही नहीं हो सकती और श्रद्धा के बिना मोक्षमार्ग ही प्रारम्भ नहीं हो सकता। अपने अभेद आत्मा में अपनापन आते ही अनादिकाल के मिथ्यात्व का अभाव होकर, पर में अपनेपन की मिथ्या मान्यता का अभाव हो जाता है। ज्ञेय मात्र के प्रति सहज ही उपेक्षाबुद्धि वर्तने लगती है, उनके परिणम के प्रति सहज उत्साह निवृत्त होकर, समभाव वर्तने लगता है। श्रद्धा के विषय में एकत्व प्राप्त कर सिद्ध बनने का उद्देश्य होने से 'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार आत्मा का वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ भी उसी ओर कार्यशील हो जाता है। फलस्वरूप क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ आत्मा पूर्णदशा प्राप्त कर लेता है।

शंका :– उपरोक्त समझ में आ जाने पर भी एक शंका रह जाती है कि ज्ञानी आत्मा को, अनन्तगुण तो स्वाभाविकरूप से अभेद होने से, विकल्पात्मक ज्ञान में भी अभेद ज्ञात होने लगते हैं। अतः अभेदस्वभावी आत्मस्वरूप मैं ही हूँ; इसप्रकार श्रद्धा का विषय भी अभेद बन जाता है। लेकिन ज्ञान का विषय अभेद हो जाने पर भी ज्ञाता आत्मा ज्ञान द्वारा अभेद ज्ञायक को जानता है। इसप्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद तो निरस्त नहीं होता ? अतः यह विषय भी स्पष्ट होना चाहिये।

समाधान :– वास्तव में वस्तु में तो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ऐसे भेद हैं ही नहीं; क्योंकि वस्तु तो वस्तु ही है, सत् है वह तो त्रिकाल ही रहता है, नाश नहीं होता, उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों की एकता स्वरूप अभेद सत् तो एक ही है। यह ही प्रमाण का विषय है और यही वास्तविक वस्तु का स्वरूप है। ऐसे वस्तुस्वरूप का जिसको ज्ञान नहीं है ऐसे जिज्ञासु को समझाने के लिये तथा जिसको वह स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ उसको प्राप्त कराने के लिए जिनवाणी में अभेद वस्तु को भेद करके समझाने का भी प्रावधान है। इसीकारण ऐसी पद्धति के कथनों को व्यवहार कहा गया है लेकिन व्यवहार के कथन को यथार्थ मान लेना मिथ्यात्व है और समझाने अथवा प्राप्त करने के लिए भेद की भाषा का उपयोग करना समीचीन मार्ग है।

इसप्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।

फिर भी इस विषय की स्पष्टता के लिए कुछ चर्चा की जाती है। विचार किया जावे तो ज्ञाता और ज्ञान दोनों एक द्रव्य के ही भेद हैं, ज्ञाता तो द्रव्य और ज्ञान उसकी पर्याय। तात्पर्य यह है कि दोनों में द्रव्य और पर्याय का ही भेद है लेकिन ज्ञेय तो स्व एवं पर दोनों होते हैं, पर तो पर है ही, वह तो स्वयं भिन्नता सिद्ध करता है। इसप्रकार इन अपेक्षाओं को लेकर वस्तु की अभेदता हमको समझ में नहीं बैठती, फलतः ऐसी शंका उत्पन्न होती है।

समाधान :– प्रथम तो हमको विचार करना चाहिये कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ऐसे तीन भेद होते भी हैं या नहीं; क्योंकि अगर तीन भेद वास्तविक हैं और वस्तु में विद्यमान ही हैं तो उनकी अभेदता मानना मिथ्या होगा और अगर वस्तु में ही भेद नहीं है तो जिनवाणी में तीन भेद कहे क्यों गये हैं ? अतः इन दोनों की संगति बैठनी चाहिये ? तभी

समाधान संभव है।

यह बात सत्य है कि जिनवाणी में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद करके ज्ञानस्वभावी आत्मा की जानन क्रिया तथा ज्ञान की स्व-पर-प्रकाशकता को सिद्ध किया है। साथ में यह भी परम सत्य है कि आत्मवस्तु में ऐसे कोई भेद विद्यमान नहीं रहते, क्योंकि भगवान सिद्ध की आत्मा के ज्ञान में ऐसे भेद नहीं पड़ते। इसलिये ही अभेद आत्मवस्तु के ज्ञान स्वभाव की सामर्थ्य एवं उसकी हर एक पर्याय की सामर्थ्य को समझने के लिये भेद करके समझाने की जिनवाणी में पद्धति है। लेकिन ऐसी पद्धति को व्यवहार कहा है। यह भी ज्ञान करा दिया गया है कि जैसा व्यवहार से कहा गया है वैसी ही वस्तु को नहीं मान लेना; यह तो अपरिचित का परिचय कराने के लिये संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन के लिये भेद करके समझाने की समीचीन पद्धति अपनायी गयी है, वस्तु तो अभेद ही है।

प्रश्न :– उपरोक्त पद्धति से भी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद निरस्त कैसे हो जावेंगे ?

समाधान :– उपरोक्त स्पष्टीकरण तो मात्र वस्तु की यथार्थता समझाने के लिये किया गया है वह समझ में आ जाने से वस्तु की वास्तविकता एवं भेद के कथनों का उद्देश्य समझ में आ जाता है, जिससे भ्रम उत्पन्न होने का अवकाश नहीं रहता। अब भेद बुद्धि निरस्त करने की पद्धति पर विचार करते हैं।

वास्तव में ज्ञाता और ज्ञान का भेद समझना ज्यादा कठिन नहीं है, क्योंकि ये तो एक ही सत् को दो भेदों के द्वारा समझाने का कथन है। ज्ञातारूपी द्रव्य अपनी ज्ञानपर्याय द्वारा जानता है, इसप्रकार भेद करके समझाया जाता है। इस विषय के पहिले यह समझेंगे कि ज्ञान पर्याय जब स्व एवं पर दो प्रकार के ज्ञेयों को उनसे अलग रहकर

जानती है तो ऐसी स्थिति में उनका अभेद होना कैसे संभव होगा ? इसीलिये यह विषय हमको कठिन लगता है अतः इसको पहिले समझने की चेष्टा करेंगे। इसमें भी पर ज्ञेय के सम्बन्ध में पहिले समझेंगे।

स्वज्ञेय-परज्ञेय के जानने की प्रक्रिया

ज्ञान पर्याय की ज्ञेय को जानने की प्रक्रिया किसप्रकार वर्तती है, उस सम्बन्ध में विस्तार से तो चर्चा हम इसी पुस्तकमाला के भाग 4-5 और 6 में कर चुके हैं, इसलिये यहां तो संक्षेप से इतना ही समझ लेना चाहिये कि जानने की क्रिया तो ज्ञान पर्याय में होती है। ज्ञेय में नहीं होती, ज्ञेय के पास जाकर नहीं होती और न ज्ञेय के कारण से ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति होती है। ऐसा हमको स्थूलरूप से अनुभव भी होता है कि सामने ज्ञेय नहीं हों तो भी अथवा ज्ञेय हजारों मील दूर हों तो भी उनका ज्ञान तो ज्ञानपर्याय में उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार जानने की क्रिया तो आत्मा की ज्ञान पर्याय में उसकी योग्यता से होती है, ज्ञेय के कारण से नहीं।

इसप्रकार ज्ञेय से भिन्न रहकर, ज्ञान की पर्याय ही अपनी योग्यता (सामर्थ्य) से ज्ञेय के आकार परिणमी है। इसप्रकार के परिणमन को ही ज्ञेय की मुख्यता से ज्ञेयाकार कह दिया जाता है, वास्तव में तो वे ज्ञानाकार ही हैं और वह ज्ञान पर्याय ही वास्तव में ज्ञेय होती है। पर पदार्थ को ज्ञेय कहना तो वास्तव में उपचार कथन है इसलिये व्यवहार है। ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि पर ज्ञेयों में तो ज्ञान की पर्याय व्यापती ही नहीं, इसलिए वह पदार्थ मेरा ज्ञेय हो ही नहीं सकता। उन ज्ञेयाकारों का निमित्त बताने के लिये पर ज्ञेयों की वास्तविकता का ज्ञान कराकर उनके प्रति हेय बुद्धि उत्पन्न कराने के हेतु से परपदार्थ को भी ज्ञेय कहना समीचीन मार्ग है, व्यवहार कथन है। लेकिन उपरोक्त प्रक्रिया को सांगोपांग समझे बिना तथा श्रद्धा परिवर्तित किये बिना, ज्ञेयाकारों

के निमित्त परपदार्थों को जाननेवाला आत्मा को मानेगा तो मिथ्यात्व का ही पोषण करेगा (दृढ करेगा)।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा परपदार्थों (ज्ञेयों) का ज्ञायक तो है ही नहीं तथा हो सकता भी नहीं। वास्तव में तो अपनी ज्ञेयाकार परिणमित ज्ञान पर्याय का ही ज्ञायक है। पर का ज्ञायक (लोकालोक का ज्ञायक) कहना तो उपचार कथन है। लेकिन उपचार कथन का अर्थ यह नहीं है कि पर को जानता ही नहीं है। जानता तो अवश्य है लेकिन पर का उसमें योगदान कुछ भी नहीं है, वह तो अपनी योग्यता से पर के आकार परिणत स्वयं की ज्ञानपर्याय ही है। इसप्रकरण में एक त्रिकाली ज्ञायकभावरूपी ध्रुवतत्त्व को तो स्व अर्थात स्वज्ञेय के अर्थ में समझना और उसके अतिरिक्त समस्त गुण भेद तथा निर्मल पर्याय व विकारी पर्याय सहित समस्त लोकालोक, सबको, पर अर्थात् परज्ञेय के रूप में समझना व मानना है। पर्यायें जो आत्मा के प्रदेशों में ही उत्पन्न होती हैं अथवा रहती हैं इसकारण वे स्व मानने योग्य हैं, ऐसी अपेक्षा यहाँ नहीं समझना व मानना। श्रद्धा के द्वारा अपनी वृत्ति समस्त पर ज्ञेयों से भी सिमटकर एक मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव में आ जाती है और समस्तज्ञेय, हेय एवं उपेक्षित कोटि में आकर उपयोग को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ हो जाते हैं इसप्रकार पर ज्ञेय का और ज्ञाता का भेद निरस्त हो जाता है।

स्वज्ञेय के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार समझना चाहिये। अज्ञानी जीव भी जब अपने अनादि कालीन मिथ्यात्व का अभाव कर, अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव तत्त्व में अपनापन स्थापन कर लेगा तब ही उपरोक्त प्रकार से परज्ञेय सब उपेक्षित कोटि में आ जावेंगे। परमुखापेक्षी आत्मा का ज्ञान (उपयोग) स्वमुखापेक्षी होता हुआ स्व को ज्ञेय बनालेगा। इसप्रकार से ज्ञानी के ज्ञान उपयोग का स्व-

प्रकाशकपना प्रगट हो जाता है। ऐसे ज्ञानी को स्व-ज्ञेय का ज्ञायक कहा जाता है। अब स्वज्ञेय और ज्ञाता का भेद निरस्त कैसे हो जाता है यह समझना है ?

वास्तविक स्थिति तो यह है कि ज्ञान के स्वप्रकाशकस्वभाव की प्रगटता और परप्रकाशक की प्रगटता एक साथ और एक ही समय होती है। इसलिये ज्ञानपर्याय की स्व को जानने अथवा पर को जानने की प्रक्रिया भी अलग-अलग प्रकार की हो ही नहीं सकती। अतः ज्ञान की पर्याय की स्व को जानने की प्रक्रिया भी पर ज्ञेय के जानने के अनुसार ही होती है। लेकिन जानना तो दोनों का अपनी ही पर्याय में हो ही जाता है। ज्ञान की पर्याय स्वयं अपनी योग्यता से स्वज्ञेय के आकार परिणमती है जो कि वास्तव में तो ज्ञानाकार ही है। अतः स्वज्ञेय का भी ज्ञान हो जाता है। वास्तव में ज्ञान की पर्याय ने स्वयं अपनी ही पर्याय को जाना है, जो पर्याय स्वज्ञेय जैसी ही है, इसप्रकार यह भेद भी निरस्त हो जाता है कि स्वज्ञेयरूपी ज्ञेय को ज्ञानपर्याय ने जाना तथा ज्ञान की पर्याय ने अपनी ज्ञानपर्याय को जाना; ऐसा ज्ञेय और ज्ञान का भेद भी निरस्त हो जाता है।

उपरोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि परज्ञेय के आकार परिणमी ज्ञानपर्याय को उसी ज्ञानपर्याय ने ही अपनी योग्यता से जाना है। तथा स्वज्ञेय के आकार परिणमी ज्ञानपर्याय को भी स्वयं उसी ज्ञानपर्याय ने ही अपनी योग्यता से जाना है। इसप्रकार के जानने में ज्ञेय का तो कोई योगदान बनता ही नहीं है। ज्ञेयरूप कोई भी द्रव्य हो, गुण हो, पर्याय हो, वे सब अपने अपने समय के सत् हैं, अपनी अपनी स्वयं **की योग्यता**नुसार परिणमते हैं; उनके तत्-तत् परिणमन को **कौन-कौनका** निमित्त कहा जा रहा है, इसका तो ज्ञेय को पता भी **नहीं होता तथा** श्रद्धा ने उनको पर माना है, अतः ज्ञान में

वे गौण रह जाते हैं। फलतः ज्ञेय से निरपेक्ष रहती हुई ज्ञान पर्याय भी अपनी योग्यतानुसार ज्ञेय के आकार परिणमती हुई उसी अपनी पर्याय को ज्ञेय बना लेती है।

इसप्रकार ज्ञाता-ज्ञेय का भेद उत्पन्न होने का तो वास्तव में अवकाश ही नहीं रहता। यह सब समझते हुए तथा श्रद्धा में रहते हुए भी वह ज्ञेयाकार उससमय किसके आकार का था, इतना सिद्ध करने के लिये, निमित्त की प्रधानता से कथन कर समझाया जाता है, ऐसा व्यवहार है।

ज्ञाता और ज्ञान की अभेदता

प्रश्न :– उपरोक्त प्रकार से ज्ञाता और ज्ञेय का भेद निरस्त होकर ज्ञानपर्याय ही स्वयं ज्ञेय के रूप में रह जाती है इसलिये ज्ञान पर्याय स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय के रूप में अभेद होकर इस अपेक्षा एक ही रह जाती है। ऐसा तो समझमें आया लेकिन ज्ञाता और ज्ञान (ज्ञेय) अर्थात् ज्ञानस्वभावीआत्मा ज्ञायक और उसकी ज्ञान पर्याय ज्ञेय; ऐसे दो भेद तो फिर भी रह जाते हैं। उसमें ज्ञाता तो नित्य स्वभावीध्रुव है और ज्ञान पर्याय अनित्यस्वभावी है। अतः इस भेद का निरस्त होना कैसे संभव होगा ?

समाधान :– वस्तु तो एक ही समय में नित्यानित्यस्वभावी अखण्ड एक सत् है; सत् के टुकडे हो ही नहीं सकते वह तो भेदाभेदात्मक अभेद अखण्ड है। वस्तुस्वरूप में ही ऐसी आश्चर्यजनक विचित्रता है; **'स्वभावोतर्कऽगोचरम्'**। लेकिन ऐसी वस्तु व्यवस्था को समझने के लिए उसमें भी संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनवश भेद करके समझा जाता है; ताकि यथार्थ निर्णय होकर श्रद्धा हो सके। यदि वस्तु को भेदरूप ही मान लिया गया तो ज्ञान जब उसको जानने में एकाग्र होगा तो ज्ञान का विषय भी द्वैतरूप (भेदरूप) ही होगा। तो

वहां भी ज्ञेयपरिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो जावेगा; फलतः उसे निर्विकल्पता भी नहीं होगी और विकल्प के सद्भाव में आकुलता की ही उत्पत्ति होगी। इन सब विचारों से यह दृढ विश्वास हो जाता है कि वस्तु भेदाभेदात्मक होते हुये भी अभेद है इसीलिए स्वज्ञेय में ज्ञान एकाग्र होने पर निर्विकल्पता पूर्वक आनन्दानुभूति हो जाती है। ऐसा आगम, युक्ति, अनुमान आदि से भी सिद्ध होता है।

उपरोक्त श्रद्धा हो जाने पर भी, ज्ञातारूपी द्रव्य और ज्ञेयरूपी पर्याय का दोपना कैसे निरस्त हो जाता है, यह समझना है।

ज्ञानी भव्यात्मा ने अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव रूपी ध्रुवतत्त्व जिसको जिनवाणी में परमपारिणामिकभाव, परमशुद्ध निश्चयनय का विषय, कारणपरमात्मा, आदि अनेक नामों से कहा है, ऐसे अपने ध्रुव तत्त्व में ज्ञानी ने अपनापन स्थापन किया है अर्थात् अपना अस्तित्व ही मात्र उसीरूप माना है। ध्रुव के अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हो रहे हों, उनमें से किसी रूप भी मैं नहीं हूँ। इस अपेक्षा से मेरी स्व को जानने वाली ज्ञान पर्याय भी पर ज्ञेय की कोटि में आ जाती है। इसप्रकार ज्ञानी को तो स्व के रूप में मात्र अपने ध्रुव के अतिरिक्त अन्य कोई भासता ही नहीं है अतः श्रद्धा द्वैत रहित होकर वर्तने लगती है, अन्य कोई भी स्व के रूप में लगता ही नहीं है।

उपरोक्त प्रकार से श्रद्धा ने जिसको स्व के रूप में स्वीकार कर लिया तो स्वज्ञेय रूप में उस समय की ज्ञानपर्याय को भी वही ज्ञान में ज्ञात होता है अर्थात् ज्ञान की पर्याय श्रद्धा के विषय के आकार ही हो गई होती है। वास्तव में तो ज्ञानपर्याय स्वयं ही तो ज्ञाता भी होगई तथा ज्ञेय भी हो गई। इसप्रकार वास्तव में तो इन दोनों में ज्ञाता-ज्ञेय का कोई भेद ही नहीं रहता। हम अपने विकल्पों में समझने-समझाने के लिये दोनों के भेदरूप विकल्प करते रहें लेकिन वस्तु में तो वास्तव में

कोई भेद ही सिद्ध नहीं होते, एकमात्र अभेदस्वरूपवस्तु जिसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का कोई भेद नहीं है, ऐसी वस्तु मात्र मैं हूँ। यही तो श्रद्धा का विषय और यही ज्ञान का विषय रहता है और इसप्रकार के भेद विकल्पों के अस्त हो जाने से, अनुभव का विषय भी एक मात्र ऐसा अभेद रहता है। फलस्वरूप निर्विकल्प आत्मानुभूति हो जाती है और अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार की गाथा 172 की टीका में इसप्रकार के ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को भी लिंग बताया है और आत्मा को तो इससे भी रहित अलिंग कहा है। उपरोक्त टीका में अलिंगग्रहण का विवेचन आचार्य श्री ने 20 बोलों के द्वारा स्पष्ट किया है, उसके 20 वें अन्तिम बोल में आत्मा को द्रव्य से भी नहीं आलिंगित, शुद्धपर्यायमात्र कहा है। इस विषय को पूज्य श्री कानजी स्वामी ने उनके **'अलिंगग्रहण प्रवचन'** पुस्तक में बहुत स्पष्ट किया है। उसका अविकल अनुवाद निम्नप्रकार है :–

प्रवचनसार की टीका "(20) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।।172।।"

– अलिंगग्रहण प्रवचन (गुजराती) पृष्ठ 90

"यहाँ 20वें बोल में ऐसा कहते हैं कि शुद्ध पर्याय है, उसीसमय त्रिकाली ध्रुवज्ञान गुण है लेकिन ज्ञान की शुद्धपर्याय में ज्ञान के ध्रुव सामान्यपने का अभाव है अर्थात् विशेष-विशेष में सामान्य का अभाव है इसलिये शुद्धपर्याय सामान्य ज्ञानगुण को स्पर्शती नहीं है।

शुद्धपर्याय में सामान्य का अभाव है कारण, विशेष में सामान्य का अभाव नहीं हो तो विशेष और सामान्य एक हो जावेंगे, लेकिन

वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। विशेष, विशेष से ही है, सामान्य से नहीं है – विशेष निरपेक्ष है यह सिद्ध करना है।

18-19-20 बोल में दो-दो प्रकार के वर्तमान सिद्ध करके, एक दूसरे को स्पर्श नहीं करता ऐसा कहकर अभेद की श्रद्धा कराने का उद्देश्य है।

18 वें बोल में गुण भेद का गुणी में अभाव बताकर, अभेद गुणी वह सम्यग्दर्शन का विषय होता है, ऐसा बताया गया है।

19 वें बोल में प्रगट हुई सम्यग्ज्ञान की पर्याय है उसको सामान्य ध्रुवज्ञाताद्रष्टा सादृश्य स्वभाव स्पर्शता नहीं ऐसा बताकर, सामान्य सादृश्य ध्रुवस्वभावरूप आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा बताया है।

20 वें बोल में ऐसा कहा है कि वर्तमान निर्मल ज्ञानपर्याय वह ध्रुवज्ञानस्वभाव को स्पर्शती नहीं है। शुद्धपर्याय वर्तमान प्रगट है। 'है' उसकी बात है। शुद्धपर्याय पहिले नहीं थी और पीछे ध्रुव के लक्ष्य से प्रगट होगी, ऐसी सापेक्षता की बात तो लेनी नहीं है। शुद्धपर्याय है, है और है, तथा सामान्य ध्रुव भी है। लेकिन शुद्धपर्याय सामान्य के कारण नहीं है, क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव है।

1. शुद्धप्रकट हुई पर्याय, निमित्तरूप देव-शास्त्र-गुरु आये इसलिये प्रकट हुई ऐसा नहीं है।

2. शुद्धप्रकट हुई पर्याय, पुण्य के शुभभाव हैं इसलिये प्रकटी है – ऐसा नहीं है।

3. शुद्ध प्रकट हुई पर्याय, सामान्य ज्ञानगुण शक्तिरूप है इसलिये प्रकट हुई है ऐसा भी नहीं है।

4. पूर्व की अनुभूति के कारण, वर्तमान अनुभूति हुई है ऐसा भी नहीं है। शुद्धपर्याय है –• वो निरपेक्ष है, अहेतुक है। ऐसा निर्णय करते

ही, निमित्तों पर से एवं शुभराग पर से लक्ष्य तो छूटता ही है, उसीप्रकार विशेष और सामान्य के भेद के ऊपर से भी लक्ष्य छूटकर के एकाकार वस्तु के ऊपर लक्ष्य जाता है।

सभी गुण असहाय कहे हैं, एक गुण में दूसरे गुण का अभाव है, उसको अतद्भाव कहते हैं, दर्शनगुण ज्ञानगुण की अपेक्षा नहीं रखता और ज्ञानगुण दर्शन गुण की अपेक्षा नहीं रखता, सर्वगुण असहाय हैं, निरपेक्ष हैं, उसीप्रकार ज्ञान की जो शुद्ध पर्याय प्रकट है वो ज्ञानगुण सामान्य की अपेक्षा नहीं रखती। शुद्धपर्याय में त्रिकाली ज्ञानगुण का अभाव है। सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की एक-एक शुद्ध पर्याय असहाय है, निरपेक्ष है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि निरपेक्ष पर्याय कहकर क्या पर्याय दृष्टि करानी है ?

उत्तर :– नहीं, पर्यायदृष्टि नहीं कराना है, समय-समय की पर्यायसत् अहेतुक है, वो निमित्त की अथवा राग की अपेक्षा तो रखती ही नहीं है लेकिन ज्ञानगुण सामान्य है उसकी भी अपेक्षा नहीं रखती, ऐसी निरपेक्षता बतानी है। शुद्धपर्यायरूप परिणमता है वह ही आत्मा है, **आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है – ऐसा बताकर द्रव्यदृष्टि करानी है,** सामान्य तथा विशेष के भेद वाला आत्मा वो सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं है। **शुद्धपर्याय वही आत्मा है ऐसा कहकर अभेद दृष्टि करानी है।**

इसप्रकार अलिंगग्रहण का अर्थ अ माने नहीं, लिंग माने प्रत्यभिज्ञान का कारण, ग्रहण माने ज्ञानगुण त्रिकाली सामान्य अर्थात् जिसको ज्ञान गुण सामान्य नहीं है ऐसा आत्मा वो अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञानगुण से स्पर्शित नहीं होता हुआ ऐसा शुद्धपर्याय है। आत्मास्वयं ही शुद्धपर्याय है। **आत्मा और शुद्धपर्याय में भेद नहीं है। ऐसे तेरे स्वज्ञेय को जान ऐसा स्वज्ञेय आत्मा को जानना श्रद्धान**

करना वो धर्म है।"

उपरोक्त प्रकरण ज्ञानी जीव को स्वानुभव के समय जो वेदन अनुभव होता है उस समय का है। उस समय जो वेदन आया है उसमें अनन्तगुणों का रस सम्मिलित होता है, उनमें आनन्द (सुख) गुण भोक्तागुण एवं ज्ञानगुण भी सम्मिलित रहता है। समस्त द्रव्य का कार्य तो पर्याय में ही होता है और पर्याय से ही व्यक्त होता है। द्रव्य तो पर्याय से अछूता रहकर अक्रिय अकारक-अवेदक, ही रहता है, इसीलिये उसका नाम ध्रुव है। लेकिन द्रव्य, गुणों से अभिन्न और पर्यायें द्रव्य से अभिन्न होने से, वह सब मिलकर अखण्ड – एक वस्तु मात्र ही है। अतः उस समय जो वेदन हुआ, उसी को ज्ञान ने जाना, बस उतना मात्र ही आत्मा अर्थात् वस्तु है।

पूज्य श्री स्वामीजी के उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह विषय अत्यन्त स्पष्ट होकर सिद्ध हो जाता है कि आत्मा में वास्तव में ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय के कोई भेद हैं ही नहीं, वह तो अभेद वस्तु मात्र है। आलाप पद्धतिकार ने भी निश्चयनय का विषय अभेद और अनुपचार रूप वस्तु ऐसा आत्मा को बताया है।

समयसार कलश 271 द्वारा भी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान अभेदरूप से एक आत्मा को ही बताया है। गाथार्थ निम्नप्रकार है :–

"ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है – इस अर्थ का काव्य (कलश) कहते हैं।"

"श्लोकार्थ :– जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञान मात्र ही नहीं जानना चाहिये परन्तु ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह ज्ञान-ज्ञेय- ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिये, अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता–इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भाव युक्त वस्तु मात्र जानना

चाहिये।"

उन्हीं भावों को स्पष्ट करते हुये कलश टीकाकार इसी कलश की टीका के अन्त में लिखते हैं :–

"भावार्थ ऐसा है कि मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदकरूप से जानता हूँ इसलिये मेरा नाम ज्ञान, मैं स्वयं के द्वारा जानने योग्य हूँ इसलिये मेरा नाम ज्ञेय, ऐसी दोनों शक्तियों के अतिरिक्त अनन्त शक्ति रूप मैं हूँ इसलिये मेरा नाम ज्ञाता; – ऐसा नाम भेद है, वस्तु भेद नहीं है। तो कैसा हूँ ? जीव ज्ञायक है, जीव ज्ञेयरूप है, ऐसे जो वचन भेद, उनके द्वारा भेद को प्राप्त होता हूँ। भावार्थ ऐसा है कि – वचन का भेद है, वस्तु का भेद नहीं है।।271।।"

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्यायमय अभेद एक वस्तु मात्र ही है। ज्ञातारूपीद्रव्य ने ज्ञानगुण के द्वारा ज्ञानपर्याय को जाना ऐसे तीनों भेदरूप वस्तु तो एक ही रहती है। इसप्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय भेद तो समझने मात्र के प्रयोजन के लिये किया जाता है, वास्तव में वस्तु तो अभेद ही रहती है।

इसीप्रकार समयसार परिशिष्ट के उपाय-उपेय भाव के प्रकरण में भी यह बताया है कि साध्य-साधक भाव में आत्मा ही अनन्य है :–

"इसप्रकार दोनों में (उपाय-उपेय में) ज्ञान मात्र की अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तु (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से, मुमुक्षुओं को, जिन्हें कि अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है।"

इसीप्रकार नाटक समयसार में भी, सिद्धी (आत्मानुभव) की प्राप्ति का उपाय एक मात्र अभेद निज आत्मा को ही बताया है।

"एक देखिये जानिये रमि रहिये, इकठौर ।
समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहिं और।।"

उपरोक्त समस्त चर्चा का सारांश यह है कि आत्मवस्तु तो वास्तव में अभेद-अखण्ड ज्ञानस्वरूपी वस्तु मात्र है और ज्ञानी आत्मा का उपयोग जब उस अभेद आत्मा में प्रगाढता से एकाग्र होकर ऐसा लीन (तन्मय) हो जाता है कि अनन्त काल तक उपयोग बाहर की ओर झुकता ही नहीं है ऐसी दशा ही आत्मा की अरहंत और सिद्धदशा है। ऐसी दशा प्राप्त कार्यपरमात्मा (सिद्धात्मा) के अनुभव में ऐसा ही अभेद-अखण्ड-ज्ञानस्वरूपी आत्मा प्राप्त हुआ है, इससे भी सिद्ध है कि आत्मा तो वास्तव में अभेद-अखण्ड ज्ञानस्वरूपी ही है।

ज्ञानी साधक आत्मार्थी को निर्विकल्प आत्मानुभूति के काल में भी उपरोक्त प्रकार के अभेद-अखण्ड-ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ही अनुभव होता है। उसके श्रद्धा-ज्ञान का विषय भी ऐसा ही आत्मा होता है। इससे भी सिद्ध है कि आत्मा का स्वरूप उपरोक्त प्रकार का ही है।

उपरोक्त प्रमाणों के द्वारा निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आत्मा के अनुभव के पूर्व आत्मार्थी के निर्णय में भी उपरोक्त प्रकार का आत्मा ही आना चाहिये। तब ही ऐसे निर्णय को व्यवहार की संज्ञा प्राप्त हो सकेगी।

निर्णय की चरमदशा पर पहुंचने के पूर्व आत्मार्थी को आत्म-स्वरूप का निर्णय करने के लिये भी, यह विश्वास रखकर कि वस्तु स्वरूप तो अभेद-अखण्ड-ज्ञानस्वरूपी है; फिर भी यथार्थ निर्णय के लिए आत्मस्वरूप को भेद-प्रभेद करके समझना पड़ता है, अन्यथा वस्तु के सामर्थ्य का एवं वर्तमान दशा की कमी का तथा उसको नाश करके वांछित दशा प्राप्त करने का उपाय ही नहीं बन सकेगा। इसलिये जबतक यथार्थ आत्मस्वरूप निर्णय में नहीं आ जावे, तब तक,

अभेदस्वभावीवस्तु को समझने मात्र के लिये ही भेद-उपचार द्वारा वस्तु को समझा जा रहा है; वस्तु तो अभेद ही है; ऐसा विश्वास (श्रद्धा) जागृत नहीं हो सकती। वास्तव में भेदस्वरूप वस्तु नहीं है। इस श्रद्धा के साथ जो आत्मार्थी व्यवहार कथनों का उपयोग करेगा तो उसको निर्णय में आत्मस्वरूप अभेद-अखण्ड-ज्ञानस्वरूपी ही आवेगा।

इसप्रकार व्यवहार भी निश्चय का सहकारी जिनवाणी में कहा है; लेकिन वस्तु को व्यवहार कथन जैसी ही मान लेवे तो मिथ्यात्व हो जावेगा। इसलिये आत्मार्थी को व्यवहार कथनों का उपयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये।

ज्ञान में अभेद आत्म स्वरूप आने पर अतीन्द्रिय आनन्द कैसे हो ?

श्रद्धा ने जब अभेद आत्मा में अपनापन स्थापन कर लिया तो आत्मा का ज्ञान भी स्वलक्ष्यी हो गया। इन्द्रियां बीच में आती थीं वे भी स्व के जानने में नहीं रहीं। जब आत्मा का ज्ञानोपयोग परलक्ष्य पूर्वक कार्यशील होता था तब इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान कार्य करता था। लेकिन आत्मानुभव में तो ज्ञानोपयोग स्वलक्ष्यपूर्वक ही कार्य करता है अतः उस ज्ञान को अतीन्द्रियज्ञान कहा गया है। इसलिये ऐसे ज्ञान में जो ज्ञात होता है, वह आत्मा भी अतीन्द्रिय कहा जाता है।

यह विषय तो पूर्व प्रकरणों में भली भांति चर्चित हो चुका है कि एक गुण में दूसरा गुण एकमेक नहीं हो जाता। लेकिन परिणमन तो अभेद आत्मद्रव्य का एक अभेद ही होता है। अतः हर एक गुण के सामर्थ्य का प्रगटीकरण उस अभेदपर्याय में सम्मिलित होकर रहता है; इसप्रकार के परिणमन में अनंतगुणों का रस (स्वाद-सामर्थ्य) रहता है, इसी को जिनवाणी में एक गुण में दूसरे गुण का रूप रहता है इसप्रकार के कथन द्वारा समझाया गया है। जिसकी भी चर्चा विस्तार

से पूर्व प्रकरणों में कर चुके हैं।

आत्मा में एक सुख नाम की शक्ति भी है, समयसार परिशिष्ट के शक्तियों के प्रकरण में सुख शक्ति का लक्षण बताया है :–

"अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुख शक्ति ।। ५।।"

इसप्रकार सुखशक्ति का रूप भी आत्मानुभव की पर्याय में व्याप्त होकर परिणमता है। ऐसे अभेद परिणमन में, सुख का भी परिणमन रहने से और ज्ञान अतीन्द्रिय होने से आत्मानुभव की पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना अवश्यंभावी है, इसलिये आत्मानुभव का लक्षण अतीन्द्रिय आनन्द भी कहा जाता है और यह आगम सम्मत है।

यहाँ कोई ऐसा तर्क करे कि उस अभेद पर्याय का वेदन आत्मा को कैसे आया?

उत्तर :– आत्मा के परिणमन का स्वाद आत्मा को आना ही चाहिये; क्योंकि ऐसा आत्मा का स्वभाव है। नाटक समयसार की उत्थानिका के पद्य 26 में जीव के वर्णन में, जीव का वेदकता स्वभाव बताया है :–

"समता – रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास ।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीव विलास ।। २६।।

अर्थ :– वीतरागभाव में लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायकस्वभाव साहजिक सुख का सम्भोग, सुख-दुख का स्वाद और चैतन्यता – ये सब जीव के निज गुण हैं ।।26।।"

इसके अतिरिक्त आत्मा में एक प्रकाश नाम की शक्ति है, जिसका स्वरूप समयसार परिशिष्ट में बताया है – "स्वयं प्रकाशमान विशद् (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी (स्वसंवेदनमयी) प्रकाश शक्ति" इसके फलस्वरूप आत्मा अपने आनन्द का स्वसंवेदन करता है;आत्मा

के सामर्थ्य का प्रकाश आत्मा में ही तो होगा, अतः आत्मा अपने आनन्द का अपने आप में ही प्रकाश करे अर्थात् अनुभव करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है।

इसप्रकार आत्मा के अनन्त गुण अभेदरूप से स्वरूप सन्मुख होकर परिणमन करने लगते हैं। अतः उस परिणमन में अनन्त गुणों का सामर्थ्य रस-स्वाद आदि सम्मिलित रूप से आत्मा के संवेदन में आ जाता है; ज्ञान का परिणमन भी साथ ही रहता है। अतः ज्ञान उपयोगात्मक होकर उस वेदन आदि संपूर्ण परिणमन को जान लेता है और धारणाज्ञान में बस जाने से, कालान्तर में भी स्मृति का विषय बना रहता है। फलस्वरूप ज्ञानी की रुचि स्व की ओर उग्र वर्तती रहती है तथा बाह्य ज्ञेयों की ओर उपयोग जाने पर भी, उनके प्रति उत्साह नहीं रहता। फलतः ज्ञानी को संसार-देह-भोगों में अज्ञानी के समान गृद्धता का अभाव हो जाता है। अज्ञानी के समान अशुभभाव भी नहीं होते तथा अन्याय-अनीति-अभक्ष्यभक्षण का सेवन एवं सप्तव्यसन के भाव भी उत्पन्न नहीं होते, इसतरह उसका बाह्य आचरण भी परिवर्तित हो जाता है।

रुचि की उग्रता के साथ आत्मार्थी स्वस्वभाव में लीन होने का पुरुषार्थ जितना-जितना बढाता जाता है, उतनी ही स्वरूपस्थिरता बढती जाती है, तदनुसार गुणस्थान वृद्धि भी होती जाती है।

यथार्थ निर्णय –

मिथ्याज्ञान का निर्णय आत्मानुभव में कार्यकारी कैसे ?

प्रश्न :– अज्ञानी का निर्णय करनेवाला ज्ञान तो मिथ्याज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान द्वारा निर्णय किये हुये निर्णय की इतनी महत्ता क्यों ?

समाधान :– यह बात तो यथार्थ है कि आत्मा के अनुभव के

पूर्व बर्तने वाला ज्ञान मिथ्या ही कहा जाता है। लेकिन वह मिथ्यापना ज्ञान का दोष नहीं है, ज्ञान का कार्य तो मात्र जानना है, मिथ्या मान्यता के कारण विपरीत श्रद्धा होने से ज्ञान भी तदनुसार जानने लगता है। ज्ञान के जो संशय, विपरीत, अनध्यवसाय दोष कहे हैं, वे तो मात्र ज्ञान की अस्पष्टता के सूचक हैं, विपरीतता के नहीं। श्रद्धा एवं चारित्र इन दो गुणों का परिणमन विपरीत अथवा अविपरीत दो प्रकार का होता है। लेकिन बाकी के गुणों के परिणमन में मात्र घटना-बढ़ना होता है। इसलिये ज्ञान स्वयं तो विपरीत अविपरीत अर्थात् मिथ्या अथवा सम्यक् नहीं होता लेकिन श्रद्धा की विपरीतता अर्थात् मिथ्यात्व के साथ के ज्ञान के परिणमन को मिथ्याज्ञान कह दिया जाता है और श्रद्धा की यथार्थता होने पर अर्थात् सम्यक्त्व होने पर उसी ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कह दिया जाता है। जब आत्मार्थी आगम अभ्यास, गुरुउपदेश, सत्समागम आदि के द्वारा, आगमानुसार समझकर, यथार्थ निर्णय करके निजआत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय करने का पुरुषार्थ करता है, तो मिथ्यात्व भी क्षीणता को प्राप्त होता जाता है।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व क्षीण होते-होते भी, जबतक सूक्ष्मातिसूक्ष्म मिथ्यात्व रहेगा तब तक का ज्ञान भी कहलावेगा तो मिथ्याज्ञान लेकिन तीव्र मिथ्यात्व दशा के साथ वर्तनेवाले ज्ञान के मिथ्यापने में और सूक्ष्ममिथ्यात्व के साथ रहने वाले ज्ञान में बहुत भारी अंतर रहता है। मिथ्यात्व की उग्रता के साथ वर्तते हुए ज्ञान में तो आत्मस्वरूप का निर्णय हो ही नहीं सकता लेकिन वही ज्ञान जब मिथ्यात्व की क्षीणता अर्थात् मिथ्यात्व ढीला होने के साथ वर्तता हो, तब ही ज्ञान आत्मस्वरूप के निर्णय करने में कार्यशील होता है। इसही अपेक्षा से सम्यक्त्व के सन्मुख आत्मा को, पांच लब्धियों के

क्रम से स्वरूप निर्णय एवं अनुभूति होने का जिनवाणी में विधान है। इसप्रकरण में सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि होती है, तदुपरान्त विशुद्धि लब्धि के साथ वर्तनेवाला ज्ञान ही देशना प्राप्तकर यथार्थ निर्णय कर सकता है। उसके साथ ही तीनों लब्धियों में क्रमशः मिथ्यात्व भी क्षीण होता रहता है। इसप्रकार दोनों का आपस में सहज वर्तनेवाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी गृहीत मिथ्यात्व से हटकर आत्म स्वरूप के निर्णय करने की ओर आकर्षित होता है तो मिथ्यात्व में भी किंचित क्षीणता तो प्रारंभ होती ही है। उसके साथ वर्तनेवाला ज्ञान, सर्व प्रथम आगम के आधार से एवं गुरु उपदेश व सत्समागम से देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझता है; अरहंत और सिद्ध भगवान की आत्मा के स्वरूप को अपना आदर्श बना कर, उनके समान आत्मा को बनाने की रुचि में अग्रसर होता है। उनके द्वारा अपनाया गया मार्ग जो जिनवाणी में बताया गया है; ऐसी श्रद्धा होने पर उसको समझने की चेष्टा करता है। इसप्रक्रिया में संलग्न होने पर मिथ्यात्व और भी क्षीण हो जाता है और साथ में वर्तता हुआ ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाने पर भी, मिथ्यात्व की क्षीणता वर्तने से ज्ञान में यथार्थ निर्णय करने की सामर्थ्य और बढ़ जाती है। जिनवाणी के अध्ययन द्वारा यथार्थ आत्मस्वरूप समझ में आ जाता है, तदुपरान्त सिद्ध भगवान बनने की प्रक्रिया समझकर तदनुसार आचरण करने का पुरुषार्थ करता है तो साक्षात् साधक ऐसे साधु परमेष्ठी के स्वरूप को समझकर स्वरूप में आचरण करने का यथार्थ मार्ग निर्णय करता है। इसप्रकार देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसका श्रेय भी ज्ञान के निर्णय को ही है। यही कारण है कि आगमानुसार देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा को, श्रद्धागुण के सम्यक्पने का व्यवहार

कहा है। ज्ञान में ऐसी श्रद्धा के योग्य निर्णय एवं मिथ्यात्व की मंदता हुए बिना आत्मानुभव दशा के योग्य सन्मुखता भी नहीं हो सकती। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इसीप्रकार स्वरूप की स्पष्टता बढ़ते-बढ़ते जब समझ चरमदशा अर्थात् देशना की चरमदशा पर पहुंचती है, वहाँ मिथ्यात्व अत्यन्त क्षीण होकर पूर्णतः क्षीण (उपशम अथवा क्षायक) होने के समीप पहुंच जाता है, उस समय के मिथ्यात्व की दशा के साथ वर्तने वाला ज्ञान भी मिथ्याज्ञान की श्रेणी में वर्तते हुए भी सम्यक्ज्ञान कहलाने के अत्यन्त समीप पहुंच जाता है। इस दशा तक पहुंचाने का श्रेय भी ज्ञान के निर्णय को ही है। इन्हीं कारणों से तत्त्व निर्णय को भी सम्यक्त्व का व्यवहार कहा जाता है। ऐसी दशा का अभाव होकर ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। इस अपेक्षा उपरोक्त व्यवहार को परम्परा कारण भी जिनवाणी में कहा गया है तथा ऐसे व्यवहार को पूर्व में पार करे बिना भी निश्चय की प्राप्ति नहीं होती, इस अपेक्षा व्यवहार कारण भी कहा गया है।

यथार्थ निर्णय का आत्मानुभव में योगदान

प्रश्न :– ज्ञान के निर्णय की यथार्थता का इतना अधिक महत्व क्यों ?

समाधान :– आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञान ही ऐसा गुण है, जिसके समक्ष ज्ञेय के रूप में अनन्त पदार्थ होते हैं। यह दायित्व भी उसी गुण का है कि उन सबको स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक ही जाने। इसलिये ज्ञान का विभागीकरण करने में भूल नहीं करना चाहिये। लेकिन अगर ज्ञान अपने निर्णय को विपरीत कर ले अर्थात् वास्तव में जो पर है उनको स्व के स्थान पर निर्णय कर ले और वास्तव में जो स्व है उसको स्व माने ही नहीं अथवा पर मानने लगे तो इसप्रकार की

अकेले ज्ञान के विपरीत निर्णय का फल, सम्पूर्ण आत्मा को ही भोगना पड़ता है और अनादिकाल से ऐसी भूल का फल ही भोगता चला आ रहा है।

अगर ज्ञान यथार्थतापूर्वक स्व को स्व के रूप में निर्णय करलेवे तथा पर को पर के रूप में निर्णय कर ले तो, निर्णय यथार्थ होने से, उसका फल भी सम्पूर्ण आत्मा ही भोगता है। यथार्थ निर्णय का फल अनन्तशान्ति अर्थात् निराकुलतारूपी सुख की प्राप्ति होती है और विपरीत निर्णय का फल अनन्त अशांति अर्थात् आकुलता प्राप्त होती है।

प्रश्न :– वह किस प्रकार ?

समाधान :– ज्ञान के समक्ष तो अनन्तानन्त ज्ञेय होते हैं, उनमें से, आगम के आधार से तथा अपने स्व विवेक से अकेले अपने आपको अर्थात् स्व को छांटकर, निर्णय करके, आत्मा के सम्पूर्ण गुणों के समक्ष प्रस्तुत करे, ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य का दायित्व भी अकेले ज्ञान का ही है।

ज्ञान ऐसा निर्णय करने के लिये, श्रीगुरु के समागम पूर्वक यथार्थदृष्टि प्राप्तकर, उक्त दृष्टि पूर्वक द्रव्यश्रुत (जिनवाणी) के अध्ययन करने में स्याद्वाद की मुख्यता रखकर, अनेक अपेक्षाओं से किये गये कथनों को यथार्थदृष्टि से समझता है तथा सबका तात्पर्य एक मात्र वीतरागता ही प्राप्त होना चाहिये इस उद्देश्य को मुख्य रखकर, स्व को खोजकर निकाल लेता है; तो ऐसा निर्णय ही यथार्थता को प्राप्त होता है।

आत्मार्थी ने उपरोक्त पद्धति अपनाकर, ज्ञान में यथार्थ निर्णय करके, एक मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक सिद्ध समान ध्रुवतत्त्व को, स्व के रूप में निर्णय कर लिया तो ऐसे निर्णय के साथ ही रुचि अत्यन्त

उग्र हो जाती है और पुरुषार्थ भी उग्र हो जाता है। सफलता मिलने पर ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योंकि अनन्तकाल से अनेक भवों में अनेक प्रकार के अन्यथा पुरुषार्थ करने पर भी जो स्वस्वरूप निर्णय में नहीं आ पाया, वह निर्णय में आते ही आत्मा को अत्यन्त उल्लास होता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। साथ ही आत्मार्थी को सफलता मिलने से रुचि अत्यन्त उग्र होकर, पुरुषार्थ तीव्र हो जाता है। उपयोग पर ज्ञेय मात्र से व्यावृत्य होकर, अपने स्व घर में (त्रिकाली ज्ञायक में) एकत्वकर, सम्मिलन करने के लिए, आतुर (अति उत्साहवान) हो जाता है और शीघ्र ही आत्मदर्शन करने की तैयारी तक पहुंच जाता है।

इस स्थिति में पहुंचने पर एक अपूर्व प्रकार का उल्लास प्रगट होता है, रोमांच उल्लसित हो उठता है, ऐसा आनन्द पूर्व में कभी नहीं आया, इसलिये वह आनन्द अपूर्व जाति का होता है। लेकिन ऐसी दशा होना वह निर्विकल्प दशा नहीं है; ऐसा उल्लास भरे आनन्द का वेदन वह अतीन्द्रिय आनंद का वेदन नहीं है। यहां तक तो सविकल्प दशा ही रहती है, ज्ञान भी मन जनित इन्द्रिय ज्ञान का (मरणासन्न अवस्था का) है। ऐसी दशा प्रगट होने पर जो इसी को आत्मानुभव मानकर भ्रमित हो जाता है वह मार्ग भ्रष्ट होकर, संसार का अन्त नहीं कर पाता। इसलिये आत्मार्थी को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। इसदशा का विवेचन पं० टोडरमलजी ने अपनी रहस्यपूर्णचिट्ठी (जो मोक्षमार्ग प्रकाशक के अन्त में छपी है) के पृष्ठ 342 में किया है। एवं पूज्य श्री कानजी स्वामी ने अध्यात्म संदेश के पृष्ठ 52 पर उपरोक्त कथन पर विस्तृत स्पष्टीकरण भी किया है। वे दोनों क्रमशः निम्नप्रकार हैं –

रहस्यपूर्ण चिट्ठी का अंश :–

"अब सविकल्प ही के द्वारा निर्विकल्प परिणाम होने का विधान कहते हैं :–

वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्वपर का करे; नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित केवल चैतन्य-चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निजस्वरूप में अहंबुद्धि धरता है। चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो आता है; तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे; वहाँ सर्वपरिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्त्तते हैं;दर्शन-ज्ञानादिक व नय-प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है।

चैतन्यस्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर इसप्रकार प्रवर्त्तता है जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।"

अध्यात्म संदेश का अंश :–

"ऐसे निज आत्मा की भावना करने की शिक्षा मुमुक्षु को दी है। ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी, ऐसी निजात्म-भावना से प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद एवं सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भी ऐसी ही भावना व ऐसा चिन्तवन कर्तव्य है। 'सहज शुद्धात्मा की अनुभूति जितना ही मैं हूँ, जो मेरे स्वसंवेदन में आ रहा है, वही मैं हूँ' – ऐसे सम्यक् चिन्तन में सहज ही आनन्द तरंगें उठती हैं और रोमांच होता है –

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के कितने रस का घोलन हो रहा है ! **ऊपर जितना वर्णन किया, वहाँ तक तो अभी**

सविकल्पदशा है। इस चिन्तन में जो आनन्द तरंगें उठती हैं, वह निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है; परन्तु स्वभाव की तरफ के उल्लास का आनन्द है और इसमें स्वभाव की तरफ के अतिशय प्रेम के कारण रोमांच हो उठता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभाव के प्रति विशेष उत्साह।

जैसे संसार में भय का अथवा आनन्द का कोई विशिष्ट खास प्रसंग बनने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, वह रोमांच हुआ कहलाता है, वैसे यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प अनुभव के खास विशिष्ट प्रसंग में धर्मी को आत्मा के असंख्यप्रदेश में स्वभाव के अपूर्व उल्लास का रोमांच होता है। **इसके बाद चैतन्यस्वभाव के रस की उग्रता होने पर ये विचार (विकल्प) भी छूट जायें, और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, सर्व परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर वर्ते उपयोग स्वानुभव में प्रवर्ते इसी का नाम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव है।** वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी या नय-प्रमाणादि का कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पों का विलय हो जाता है।"

पूज्य स्वामीजी के स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त दशा तो सविकल्पदशा में अर्थात् मिथ्यात्व के सूक्ष्म अंश की विद्यमानता में भी हो जाती है। लेकिन इतना अवश्य है कि साधक आत्मार्थी को ऐसी दशा प्राप्त हो जाने पर भी, उस ओर का आकर्षण किंचित भी उत्पन्न नहीं होता। वह तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में ही अपना स्वामित्व बनाये रखते हुए इस दशा के प्रति उत्साहित नहीं होता। परज्ञेय समझकर उपेक्षित रहकर मध्यस्थ बना रहता है। वह आत्मार्थी निश्चितरूप से निर्विकल्पदशा प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है। इसके विपरीत इस दशा के प्रति किंचित भी माहात्म्य लाकर, आकर्षण उत्पन्न हो गया तो वह साधक आत्मार्थी भी भ्रमित होकर, पर्यायदृष्टि बन जावेगा और मिथ्यात्व बढ़ाकर, संसार के किनारे आकर भी वापस

संसार समुद्र में पड़कर ऐसे दुर्लभातिदुर्लभ अवसर को खो देगा।

इतना अवश्य है कि जिस आत्मार्थी ने गुरु समागम पूर्वक अपने स्वरूप का प्रगाढ निर्णय किया है कि उपरोक्त प्रगट हुई उल्लास की दशा तो दशा ही तो है (पर्याय ही तो है) और अपूर्ण भी है। मेरा ध्रुवतत्त्व तो सिद्ध भगवान की साक्षात् मूर्ति है, वही मैं हूँ; पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा आत्मार्थी उक्त दशा को भी परज्ञेय मानकर उससे भी उपेक्षित रहकर रुचि एवं पुरुषार्थ को त्रिकाली में ही केन्द्रित रखेगा तो उसको उपरोक्त दशा, "बरसात बरसने के पूर्व आने वाली ठंढी बरसाती हवा के समान", साबित होगी कि जिसके पश्चात् निश्चित रूप से बरसात आवेगी ही' अर्थात् निश्चितरूप से निर्विकल्पदशा आवेगी ही।

उपरोक्त चर्चा से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यथार्थ साधक आत्मार्थी को तो निर्विकल्पदशा की महिमा ही नहीं होती, क्योंकि निर्विकल्पदशा भी पर्याय ही तो है– अनित्य स्वभावी है। अतः उसकी महिमा तो पर्याय की महिमा है; जो पर्यायदृष्टि का सूचक है। पर्यायदृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि कैसे बन सकता है। जिसकी द्रव्यदृष्टि है वही सम्यग्दृष्टि है। उसकी श्रद्धा तो ऐसी होती है कि मैं तो सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, पर्याय कैसी भी हो लेकिन पर्याय तो मैं हूं ही नहीं और न हो ही सकता हूँ; वह तो अपनी योग्यतानुसार अपने जन्मक्षण में उत्पन्न होगी और नाश होगी। मैं तो नित्य सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ। सिद्ध भगवान के समान पर्याय भी मेरे में प्रगट हो जावे तो भी मैं उस स्वभावी न तो हो ही सकता हूँ और न हूँ भी, मैं तो त्रिकाली सिद्ध हूँ, एक समयवर्ती सिद्ध मैं हूँ ही नहीं। ऐसी दृढश्रद्धापूर्वक ज्ञानी निरंतर वर्तता रहता है अतः उसको निर्विकल्पदशा प्रगट भी हो जावे तो भी उसकी महिमा नहीं आती। लेकिन उसके होने से रुचि एवं पुरुषार्थ

उग्र होता जाता है, इसका ज्ञान होता है।

साधक आत्मार्थी जिसको आत्मानुभव अभी प्रगट नहीं हुआ है, उसको भी आत्मानुभव प्राप्त करने के पूर्व तो उपरोक्त श्रद्धा निःशंकरूप से दृढता पूर्वक अपने में प्रगट करनी पडेगी। उसका निर्णय ऐसा अकाट्य होना चाहिये कि मुझे तो कोई भी कैसी भी पर्याय हो, वह नहीं चाहिये; मैं तो वर्तमान में ही परिपूर्ण, पानी से लबालब भरे हुए कलश के समान हूँ। किसी भी पर्याय को रखने के लिये मेरे पास स्थान ही नहीं है। निर्विकल्पदशा आवे तो क्या और नहीं आवे तो क्या; उपरोक्त सविकल्प दशा का उल्लास आवे तो क्या ? इसके आने से मेरे में कुछ भी वृद्धि होने वाली नहीं है तथा नहीं आने से कोई हानि होने वाली नहीं है। इसप्रकार पर्याय के प्रति अत्यन्त निरपेक्षभाव वर्तता हो ऐसा आत्मार्थी ही, उपरोक्त दशा आने पर उसमें नहीं अटककर, उपेक्षा करते हुए अपनी साधना में संलग्न रहता है, रुकता नहीं, फलस्वरूप आत्मानुभव प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

आत्मानुभव में योगदान –

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रादि का आत्मानुभव में योगदान

आत्मार्थी उपरोक्त प्रकार के मंथन पूर्वक जब उपरोक्त निर्णय पर पहुंचता है तब उसकी रुचि बहुत उग्र हो जाती है तथा आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ भी उग्र हो जाता है। रुचि की जो भटकन थी अपने ध्येय प्राप्त करने में वह समाप्त होकर, मार्ग निश्चित और स्पष्ट हो जाता है। सफलता के सन्मुख पहुंचने पर रुचि में तीव्रता होना स्वाभाविक होता ही है। परिणति अभी तक अपने स्वामी को ढूंढने के लिये अन्य ज्ञेयों में भटकती फिरती थी उसको अपने स्वामी का मिलना निश्चित हो जाने पर उसकी भी स्वसन्मुखता वर्तने लग जाती है। सब को बल प्रदान करने वाला वीर्य (पुरुषार्थ) भी स्व की ओर अग्रसर होने के

लिये उग्रता से बल प्रदान करने लगता है।

निष्कर्ष यह है कि अपने ध्रुव में अपनापन निर्णीत होते ही विकल्पात्मक दशा में भी आत्मा को एक साथ अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

श्रद्धा में तो ध्रुव ही मैं हूँ – ऐसा अपना अस्तित्व अपने में ही निश्चित कर सिद्ध सदृश अपने आपको मानने लगा तथा अनन्त पर द्रव्यों में मेरेपने की मान्यता विसर्जित करके, पर परिणमन के प्रति सिद्ध भगवान के समान मध्यस्थभाव पूर्वक आंशिक उपेक्षित रहते हुए, स्व में ही आंशिक संतोष वृत्ति वर्तने लगती है; भटकन समाप्त हो जाती है।

ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक होने से, उसमें स्व तो एक अपना ध्रुवतत्त्व एवं उसके अतिरिक्त जो भी हैं वे पर हैं, ऐसा सबको जानता है लेकिन स्व में अपनापन आजाने से, स्व की मुख्यता,ऊर्ध्वता हो जाती है। अतः स्व को जानने में उत्साह की प्रवृत्ति अपनी योग्यतानुसार रहती है और पर में परपना होने से उनके ज्ञात होते समय ही उनमें उत्साह हीनता वर्तती है। फलस्वरूप उपयोग स्व के प्रति आकर्षित रहता है साथ ही पर ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी उपयोग को वे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते, उपेक्षित रह जाते हैं।

श्रद्धान ने तो ध्रुव में अपनापन निश्चित कर लिया तथा ज्ञान भी स्वमुखापेक्षी हो गया तो साथ ही आत्मा के अनंतगुण भी आत्मलक्ष्यी होकर वर्तने लगते हैं। स्व-पर का निर्णय करना तो ज्ञान का कार्य है। ज्ञान ने आगम अभ्यास गुरुउपदेश, युक्ति के अवलम्बन पूर्वक अनुमान द्वारा, स्व एवं पर में से जिसको स्व के रूप में निर्णय किया; श्रद्धा ने उसी में अपनापन स्थापन कर, अपने को उस रूप ही मानना प्रारम्भ

कर दिया। बाकी आत्मा के अनन्तगुण उनमें से किसी भी गुण में स्व एवं पर का निर्णय करने की एवं अपनापन स्थापन करने की क्षमता ही नहीं है। लेकिन अपनी-अपनी सामर्थ्य प्रकट करने की उन सबमें पूर्ण क्षमता है और अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन भी करते रहते हैं। लेकिन श्रद्धा ने जिसको अपना मान लिया हो, अंधानुकरण के समान सब गुण सहजरूप से अपनी-अपनी योग्यता से उसके सन्मुख होकर कार्यशील हो जाते हैं। आगम का वाक्य है कि 'सर्वगुणांशसोसम्यक्त्व' तथा पं. टोडरमलजी साहब ने भी अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठी के पृष्ठ 343 पर कहा है कि "वहाँ सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं।" इसप्रकार उपरोक्त निर्णय प्राप्त आत्मा के, अनंतगुण भी श्रद्धा के साथ ही स्व के सन्मुख होकर परिणमने लगते हैं। अनन्त गुणों में श्रद्धा के साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुखादि भी सम्मिलित हैं।

तात्पर्य यह है कि सभी गुण सम्मिलित रूप से त्रिकाली ज्ञायक के सन्मुख होकर, रुचि के विषय में पूर्णता प्राप्त करने के लिए संलग्न हो जाते हैं अर्थात् आत्मार्थी के निर्णय की दृढता, रुचि की उग्रतापूर्वक ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होकर पुरुषार्थ पूर्वक पूर्णता प्राप्त करने के लिये संलग्न हो जाते हैं।'सर्व गुणांश वह सम्यक्त' कहने का यही तात्पर्य है।

उपरोक्त कथन का अभिप्राय ऐसा नहीं समझ लेना कि निर्विकल्प आत्मानुभव के भी पूर्व सविकल्पदशा में निर्णय करते ही आत्मा के सब गुण अपनी-अपनी सामर्थ्य पूर्ण करने में संलग्न हो जाते हैं, वह कार्य तो अनुभव के काल से ही प्रारम्भ होता है। निर्णय होने पर रुचि का वेग सब ओर से सिमटकर आत्मसन्मुख हुआ हो तो, मात्र स्वसन्मुखता ही हो पाती है; फिर रुचि की उग्रतापूर्वक एकाग्र होने पर

निर्विकल्प अनुभव हो जाता है। उसी समय से सब गुण पूर्णता प्राप्त करने में संलग्न हो जाते हैं। उपरोक्त किया गया कथन तो मात्र समझाने के लिये भेदपूर्वक किया गया है, उसे सत्यार्थ नहीं मान लेना चाहिये।

चारित्र, सुख, वीर्य आदि का आत्मानुभव में योगदान

आत्मा के अनंत गुणों में से आत्मा के अनुभव के लिये श्रद्धा और ज्ञान के अतिरिक्त मुख्य प्रयोजनभूत चारित्र, वीर्य एवं सुख गुण भी हैं। इनकी सामर्थ्य एवं उनका आत्मानुभव में किसप्रकार योगदान रहता है; उसपर भी संक्षेप में चर्चा करके समझेंगे।

चारित्र गुण का कार्य है स्थिरता, लीनता, रमना, जमना आदि आदि। श्रद्धा ने जिसको स्व के रूप में स्वीकार कर लिया, उसकी ओर ही आत्मा के अनंतगुण कार्यशील हो जाते हैं, उनमें चारित्रगुण भी होता है। अतः श्रद्धा के विषय में ही जमने, रमने, लीन होने का कार्य चारित्र द्वारा ही होता है। लेकिन इसमें तारतम्यता पड़ती है। श्रद्धागुण के कार्य में तारतम्यता नहीं होती अर्थात् थोड़ा स्व को भी अपना माने तथा थोड़ा पर को भी अपना मान ले ऐसा नहीं होता। श्रद्धा तो या तो पूर्णतया पर को ही अपना मानेगी जैसा कि अनादि से अज्ञानदशा में मानता रहा था; वही आत्मा, ज्ञानी होते ही स्व को पूर्णतया अपना मानने लगा और समस्त पर को पूर्णतया अपने से भिन्न पर ही मानने लगेगा। लेकिन चारित्रगुण का कार्य इसप्रकार का नहीं होता। चारित्र गुण में वृद्धि आत्मार्थी की रुचि एवं पुरुषार्थ की तारतम्यता के अनुसार ही होती है, उसी के अनुसार स्वरूप में स्थिर, लीन होने में भी तारतम्यता पड़ जाती है। अपनी-अपनी भूमिका की निर्बलता के कारण स्व में पूर्णतया लीन नहीं हो पाता, एकत्वता पूर्वक, आंशिक स्व में लीन हो पाता है और आंशिक पर की ओर भी

आकर्षित हो जाता है। फलतः स्थिरता में भी तारतम्यता पड जाती है।

वीर्य गुण का कार्य है, स्वरूप की रचना करना, समयसार के परिशिष्ट में वर्णित 47 शक्तियों के प्रकरण में, छठवीं वीर्यशक्ति का कार्य बताया है "स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति ।।6।।" श्रद्धागुण ने जिसमें अपनापन किया हो, वीर्यगुण उसी में लीन होने–तन्मय होने के लिये सभी गुणों को बलाधान प्रदान करने लगता है। वास्तव में आत्मा कौन है यह निर्णय करने का वीर्य गुण का कार्य है ही नहीं। इसलिये ज्ञान ने निर्णय किया व श्रद्धा ने त्रिकाली ज्ञायक को अपना मान लिया तो वीर्य गुण उसी की रचना करने के लिये बलाधान प्रदान करने लगेगा। अज्ञानी की विपरीत मान्यता होने से वीर्यगुण भी कुवीर्य होकर संसार की रचना करने लगता है। वास्तव में तो आत्मा की शक्तियां, आत्मा को परमात्मा बनने में सहयोग करती हैं। विपरीतता का कारण तो आत्मा का अज्ञान है, शक्तियाँ नहीं। इसप्रकार आत्मा की वीर्यशक्ति, श्रद्धा के विषय में पूर्णता प्राप्त करने के लिये अपनी योग्यतानुसार बल प्रदान करती है।

इसप्रकार अनंतगुण स्वरूप सन्मुख होकर अपनी-अपनी सामर्थ्य को अपनी-अपनी योग्यतानुसार, स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन करते हुए, श्रद्धा के विषय त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व के समान, पर्याय का भी परिणमन होने लगे, इसके लिये, सम्पूर्ण गुण, आत्मा को पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करने लग जाते हैं।

हर एक आत्मा का उद्देश्य तो एक मात्र अनाकुलतारूपी सुख प्राप्त करना था, है व रहेगा। उपरोक्त समस्त प्रक्रिया भी मात्र सुख प्राप्त करने के लिए ही की जा रही है। अतः उपरोक्त प्रकार से

त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व को अपना मानकर उसी को जानना एवं उसी में जमना, रमना, लीन होने का फल भी अनाकुलतारूप सुख आना ही चाहिए तभी साधना की सार्थकता है।

इसप्रकार जब आत्मा के अनंतगुण ही आत्मसन्मुख होकर परिणमन करने लगेंगे और सब का विषय अभेद-अखंड ज्ञानस्वरूपी परिपूर्ण एवं शुद्ध द्रव्य होगा, तब न तो कोई अन्य, स्व के रूप में मानने के लिए रहा और न ज्ञेय परिवर्तन के लिए कोई आकर्षण ही रहा। इसप्रकार अज्ञात एवं अप्राप्त कुछ रहा ही नहीं। अतः आकुलता उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं रहा। आत्मा तो अनाकुल स्वभावी ही होने से पर्याय में भी पूर्ण अनाकुलता प्रगट हो जाती है। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण, श्री अरहंत एवं सिद्ध भगवान की आत्मा है; वे परम अनाकुल आनंद को भोग रहे हैं और अनंत काल तक भोगते रहेंगे। समयसार परिशिष्ट के 47 शक्तियों के प्रकरण में, आत्मा में बसी हुई अनन्त शक्तियों में सुख नाम की शक्ति का (सामर्थ्य) बताया है कि "अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुख शक्ति ।।5।।" इसप्रकार आत्मा का स्वभाव ही अनाकुल रूप ही है अतः वह अनाकुल रूप अनंत काल तक रह सकता है। आकुलता उसका स्वभाव ही नहीं है। अज्ञानदशा में, हर समय नवीन-नवीन आकुलता उत्पन्न करता था। अब ज्ञान दशा में पर में अपनापन नहीं रहने से एवं पर में आकर्षण का भी अभाव हो जाने से, मोह, राग, द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते अतः पूर्ण सुखी रहते हैं। अपने स्वभाव में रहने के लिए काल की मर्यादा नहीं होती अतः अनंतानंत काल तक सुखी बने रहेंगे। कहा भी है

'रहि है अनंतानंत काल यथा तथा शिव परिणये।'

इसप्रकार श्रद्धागुण के यथार्थ परिणमन के साथ ही साथ अनंतगुण आत्मसन्मुख होकर परिणमन करने लगते हैं; यह अत्यन्त

स्पष्ट होकर निर्णीत हो गया।

अनन्त गुणों के अभेद परिणमन से लाभ

भेद और अभेदता दोनों ही पर्याय में होते हैं, वास्तव में द्रव्य तो अभेद एक ही है उसका परिणमन भी एक ही हो सकेगा अतः परिणमन अभेद ही होता है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य के एक समय के परिणमन (पर्याय) में अनंतगुणों के सामर्थ्य की प्रगटता मिश्र होकर सम्मिलितरूप से एक परिणमन के रूप में व्यक्त होती है, ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

उपरोक्त वस्तुस्वरूप होने से यह तो सिद्ध हो गया कि हर एक द्रव्य की हर एक पर्याय अभेदरूप होकर ही परिणमन करती है लेकिन उस पर्याय में अनंतगुणों के रस-स्वभाव-सामर्थ्य मिश्र हो जाते हैं। इसप्रकार की पर्याय में अनेकता रहते हुए भी अभेदरूप एक परिणमन कहा जाता है।

प्रश्न :– जब पर्याय ही अभेदरूप होकर प्रगट होती है, तो उसके भेद करने से क्या लाभ होगा ?

समाधान :– साधक आत्मार्थी ने उपरोक्त निर्णय कर, तदनुकूल अनुभव करके, श्रद्धा में प्रगट भी कर लिया कि मैं तो एक मात्र सिद्ध स्वभावी त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व ही हूँ। इससे विपरीत पर में अपनेपन की मान्यता का अभाव भी कर दिया। ऐसे साधक जीव का ज्ञान सम्यक् हो गया। अतः वह श्रद्धा के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व को ही स्व के रूप में जानने लग जाता है और बाकी सबको पर के रूप में जानने लगता है। इसप्रकार पर की श्रेणी में, अनंत परद्रव्य तो आते ही हैं लेकिन आत्मा में उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की पर्यायें भी सम्मिलित रहती हैं। तात्पर्य यह है कि एक त्रिकाली ज्ञायक के अतिरिक्त कोई भी हो, इस अपेक्षा उन सबको श्रद्धा ने अपना नहीं

माना अतः ज्ञान भी उनको पर रूप ही जानता है; श्रद्धा और ज्ञान दोनों एकरूप होकर कार्य करने लगते हैं तभी वे दोनों सम्यक्पने को प्राप्त होते हैं। लेकिन उपरोक्त दोनों गुणों का लाभ आत्मा को चारित्र गुण के सहयोग के बिना नहीं मिल पाता; क्योंकि चारित्र गुण का कार्य है कि श्रद्धा ने जिसको अपना माना हो, उसी में तन्मय होना, लीन होना, जमना-रमना आदि।

श्रद्धा के सम्यक् होने के साथ ही आत्मा के समस्त गुण, श्रद्धा के विषय के सम्मुख होकर परिणमने लगते हैं। इसलिए श्रद्धा ने जब त्रिकाली ज्ञायक रूप ही अपने आप को मान लिया तो ज्ञान के साथ अनंत गुण भी स्वरूपलक्ष्यी हो गए उनमें चारित्र गुण भी सम्मिलित रहता है। चारित्र के स्वलक्ष्यी होने का अर्थ है, जिसको श्रद्धा ने अपना मान लिया हो, उसी में जमना-रमना-लीन होना। इसप्रकार चारित्र गुण के सहयोग के बिना, अनंत गुण जो स्वरूपलक्ष्यी हो भी गए हैं फिर भी वे आत्मा के साथ सम्मिलित होकर तन्मय नहीं हो पावेंगे। फलतः सब गुणों के स्वाभाविक परिणमनों का लाभ आत्मा को कैसे मिल सकेगा? तन्मय होने पर ही उनका स्वाद सामर्थ्य आदि आत्मा को मिल सकेगा। सिद्ध भगवान को चारित्र गुण परिपूर्ण होकर परिणमने लगा तो अनंत गुण भी पूर्ण होकर तन्मयता पूर्वक आत्मा की सिद्ध दशा प्रगट हो गई।

लेकिन हम छद्मस्थ साधक जीवों की श्रद्धा तो पूर्ण सिद्ध भगवान के जैसी हो जाने पर भी चारित्र का तो मात्र अंश ही प्रगट हुआ है। इसलिए चारित्र अर्थात् आत्मा में स्थिरता की तारतम्यता को समझाने के लिए आचार्यों ने भी चारित्र के चार भेद बताये हैं। वे हैं – स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र एवं यथाख्यात् चारित्र। उसके प्रतिपक्षी अस्थिरता को समझाने के लिए निमित्त की

मुख्यता से अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के उदयरूप अस्थिरता को चार भेद करके समझाया है। इनमें से अनंतानुबंधी के अभावात्मक होने वाली स्वरूपाचरण चारित्र की दशा, अर्थात् शुद्धता की प्रारम्भिक दशा को चतुर्थ गुणस्थान योग्य शुद्धता भी कहा जाता है। इस साधक जीव ने अपनापन अपने त्रिकाली ध्रुव तत्त्व में स्थापन किया तो ज्ञान ने भी उसको अपने रूप में जाना, साथ ही चारित्र ने भी उसमें किंचित्लीनता द्वारा अर्थात् निर्विकल्प दशा द्वारा आत्मानन्द पूर्वक स्वानुभूति प्राप्त की। लेकिन चारित्र निर्बल होने से परप्रकाशक ज्ञान के विषयों की तरफ आसक्ति का पूर्ण अभाव नहीं होने से उनकी ओर भी आकर्षित हो जाता है। यह दशा ही आत्मस्थिरता की कमी का द्योतक है और उतने ही अंश में अचारित्रपना भी है तथा उतना ही संसार भी है यही कारण है कि इसीप्रकार की अस्थिरता को चारित्र के परिणमन की तारतम्यता अर्थात् गुणस्थान वृद्धि की तारतम्यता कहा जाता है।

प्रश्न :– इस अस्थिरता का दोषी (अपराधी) कौन ?

समाधान :– साधक जीव की त्रिकाली ज्ञायकभाव के प्रति आकर्षण एवं रुचि की उग्रता के पुरुषार्थ की मंदता ही एकमात्र कारण है। इसका न तो कोई अन्यगुण और न कोई कर्म का उदय आदि कारण है। फिर भी कर्म को व्यवहार से कारण कहा गया है, वह तो मात्र निमित्त की मुख्यता से चारित्र की शुद्धता एवं अशुद्धता की मर्यादा का ज्ञान कराने के लिये किया गया, उपचार कथन है। कर्म तो पर द्रव्य है, अचेतन है, उसका तो आत्मा में अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न :– उपरोक्त पुरुषार्थ की कमी का कारण क्या ?

समाधान :– ज्ञान का कार्य तो है, स्व एवं पर दोनों को स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक जानना। श्रद्धा का कार्य है ज्ञान ने

जिसको स्व के रूप में प्रस्तुत किया, उसको अपना मान लेना। इसप्रकार दोनों गुणों के कार्यों की यथार्थता होने से, दोनों गुण सम्यक् हो गये।

उपरोक्त कार्य सम्पन्न होने पर भी ज्ञान के सामने तो स्व एवं पर दो रहते हैं; इनमें से श्रद्धा ने त्रिकाली को तो स्व के रूप में श्रद्धान में ले लिया। लेकिन ज्ञान की जानकारी में तो श्रद्धा के विषय के अतिरिक्त जो भी रह गये उनमें अपनी विकारी निर्विकारी पर्यायें भी सम्मिलित हैं; वे सभी उसकी जानकारी में तो हैं ही। अतः वे सब भी चाहे स्व के रूप में न रहें, फिर भी पररूप में ज्ञान में विद्यमान तो हैं ही। इसलिये चारित्र की निर्बलता के कारण आत्मा का उपयोग पर की ओर भी आकृष्ट हो जाता है फलतः उपयोग के साथ अनन्त गुणों में भी उतने अंश में अस्थिरता वर्तती रहती है और तत्जन्य स्व में लीनता का भी अभाव वर्तता है। श्रद्धा के साथ चारित्र भी सम्यक् हो जाने से, स्वमुखापेक्षी होकर तो परिणमने लग गया। लेकिन आत्मा के अनंतगुणों का स्वाद भी तो तन्मयता के अनुसार आंशिक ही आ पावेगा। जितनी अस्थिरता है, उतना ही आत्मा में अचारित्र भाव भी वर्तता है।

इसप्रकार आत्मा के समस्त गुणों की अभेदता में चारित्र गुण की पूर्णता का योगदान महत्वपूर्ण है। आत्मा के सर्वगुणों की अभेदता पूर्ण हुए बिना तन्मयता भी पूर्ण नहीं हो सकती और पूर्ण तन्मयता हुए बिना आत्मा को सम्पूर्ण गुणों के स्वाभाविक परिणमन का लाभ अर्थात् पूर्ण स्वाद का उपभोग (वेदन) भी नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप आत्मा अतीन्द्रिय परमआनन्द का उपभोग भी नहीं कर सकेगा। अतः स्पष्ट है कि त्रिकाली ज्ञायक भाव में अपनापन स्थापन हो जाने पर भी, जबतक आत्मा को एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक भाव की उत्कृष्ट महत्ता –आकर्षण उत्पन्न होकर रुचि एवं परिणति अत्यन्त उग्रता के साथ त्रिकाली ज्ञायक में केन्द्रित नहीं होगी तथा परज्ञेय मात्र अर्थात्

पर्यायमात्र (जिन भावों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सके ऐसे शुभ भावों) के प्रति भी आकर्षण उत्पन्न नहीं हो तथा निर्विकल्प दशा प्रगट होकर, अतीन्द्रिय आनंद का अंश अनुभव में आवे लेकिन उसके प्रति भी, आकर्षण नहीं रहे ; और रुचि पूर्णता प्राप्त करने की ओर छटपटाती हो; ऐसा उछलता हुआ पुरुषार्थ ही; तन्मयता पूर्ण होने योग्य चारित्र की उत्पत्ति का कारण है।

इसप्रकार पर्याय और उसकी उपेक्षा ही आत्मा की पूर्णदशा प्राप्त कराने का एकमात्र उपाय है।

अभेदपर्याय भी श्रद्धा करने योग्य क्यों नहीं ?

श्रद्धा का विषय तो एकमात्र ध्रुवतत्त्व ही रहता है, उत्पाद-व्यय रूप तत्त्व कैसा भी हो वह श्रद्धा का विषय अर्थात् अपनापन मानने योग्य नहीं होता कारण स्पष्ट है कि स्थाई वस्तु को अपना मानना सुखप्रद होता है, नाशवान को अपना मानना कभी सुखप्रद नहीं हो सकेगा। यह तो ऐसा प्रश्न है जो सामान्य जन भी ऐसा ही उत्तर देंगे। प्राणी मात्र को एकमात्र सुख चाहिये और सुख तो स्थाई को अपना मानने से हो सकता है। अतः अनाकुलतारूपी सुख प्राप्त करने के लिये तो जैसे भी संभव हो, अभेद और एकमात्र अपने त्रिकालीज्ञायक ध्रुवभाव को ही अपना मानना है। इसलिये मुझे सुखी होना है तो मेरे द्रव्य के ध्रुवभाव को ही अपना अर्थात् ध्रुवभाव ही मैं हूँ – ऐसा मानना ही सुखी होने का उपाय है।

प्रश्न– पर्याय के अभेद परिणमन से ही तो सुख प्राप्त हुआ है, अतः उसकी उपेक्षा क्यों ?

समाधान– यह तो सत्य है कि सुख का उत्पाद तो पर्याय द्वारा ही होता है। ध्रुव तो सदा ध्रुव ही रहता है, लेकिन सुख की पर्याय, दुःख की पर्याय का अभाव करके उत्पन्न होती है। दुःख वेदन में आता

है उस समय तो सुख नहीं होता और सुख होता है तब दुःख नहीं रहता। अतः अगर मैं अपना अस्तित्व पर्याय को ही मानूं तो, मुझे सुख के अभाव में दुःखस्वभावी ही अपने आपको मानना पड़ेगा ? लेकिन अगर ऐसा मानूं तो जिसका स्वभाव ही दुःखरूप हो वह सुखी कैसे हो सकेगा ? प्रत्यक्ष अनुभव है कि दुःख के अभाव में ही सुखी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि पर्यायस्वरूप तो आत्मा हो ही नहीं सकता। मैं तो अनादि अनंत रहने वाला सिद्धस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ; पर्याय तो अनित्य, अध्रुव स्वभावी है। स्वभाव तो वही हो सकता है; जो अनंतकाल तक एकसा बना रहे और नाश नहीं होवे। सिद्ध भगवान अनंतकाल तक सुखी बने रहते हैं इसलिये आत्मा सुखस्वभावी ही है और वह सुखस्वभाव तो ध्रुवतत्त्व में ही रहता है। पर्याय तो दुःखी ही है, उसका तो अभाव करके सुखी होना है। अतः पर्याय रूप न तो मेरा स्वभाव है और न मेरा अस्तित्व ही मानने योग्य है।

प्रश्न :– सत् तो अखण्ड एक होता है। सत् तो उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों रूप है उसके खण्ड कैसे किये जा सकते हैं ?

समाधान :– सत् तो सदैव अखण्ड ही है और अखण्ड ही रहता है, 'उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है सिद्ध भगवान की आत्मा। उसीप्रकार मेरा सत् भी अखण्ड ही है और अखण्ड ही रहता है। यही कारण है कि पूरे सत् की अखण्ड एक ही पर्याय होती है और अखण्ड होने से ही अनन्त गुणों का रस (स्वाद) आत्मा को ही आता है तथा भोगना भी आत्मा को ही होता है। पर्याय को दुःखी नहीं कहा जाता, आत्मा को ही दुःखी कहा जाता है।

लेकिन उपरोक्त स्थिति रहते हुये भी तथा मान्यता में भी ऐसी श्रद्धा होते हुए भी, साधक दशा में साधक जीव अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, अभेद में भी भेद क[illegible]ता है, अखण्ड में भी

खण्ड कर लेता है और ऐसा करना आगम सम्मत और यथार्थ भी है।

'वस्तु अभेद-अखण्ड रहते हुए भी संज्ञा-संख्या-लक्षण-प्रयोजन के लिये उसको भी भेद करके अथवा खण्ड करके समझाया जाता है' ऐसा सिद्धांत का वाक्य है। इसीकारण ऐसे कथनों को व्यवहार कथन कहा गया है। आलापपद्धतिकार ने कहा भी है –'भेदोपचारतया वस्तु व्यवहियत इति व्यवहारः' अर्थात् भेद और उपचार द्वारा वस्तु का व्यवहार किया जाता है अर्थात् समझा जाता है तथा साधना भी की जाती है। इसलिए उसको व्यवहार कहा गया है। लेकिन वस्तु तो अभेद और अखण्ड ही है। इसलिए श्रद्धा में अर्थात् मान्यता में तो स्पष्ट रहना चाहिए कि वस्तु तो अभेद-अनुपचरित ही है। आलापपद्धति में भी कहा है कि 'अभेदोपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः' अर्थात् निश्चय-मान्यता-श्रद्धा तो यही होनी चाहिए कि 'वस्तु तो अभेद और अनुपचरितरूप ही है। लेकिन उसको समझने के लिए अथवा साधना मात्र के लिए भेद करके अथवा उपचार करके मात्र समझा जा रहा है अथवा साधना की जा रही है।' मेरा प्रयोजन सिद्ध करने मात्र के लिए, अभेद-अखण्ड वस्तु में भी भेद कर रहा हूँ। लेकिन वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। यही एक मात्र वास्तव में समीचीन मार्ग है और यही निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझने की यथार्थ पद्धति है।

वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु तो भेदाभेदात्मक होते हुए भी अभेद है। अतः दोनों स्थितियों को यथार्थ और स्पष्ट समझे बिना न तो वस्तु को समझा ही जा सकेगा और न साधना ही हो सकेगी। इसीकारण व्यवहार को निश्चय का प्रतिपादक कहा गया है एवं वास्तव में साधन नहीं होते हुए भी साधना के लिए उसको परम्परा कारण भी जिनवाणी में कहा गया है।

ध्रुव, श्रद्धा का विषय कैसे बनेगा ?

इस जीव को अज्ञान दशा में तो स्व एवं पर की यथार्थ पहिचान ही नहीं हुई थी। पश्चात् जिनवाणी के अध्ययन एवं गुरु-उपदेश पूर्वक यथार्थ मार्ग समझकर, स्व एवं पर का यथार्थ निर्णय अपने विवेक से किया तथा स्व को प्राप्त करने की रुचि भी जाग्रत हुई, तब यह जीव सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ। ज्ञान के निर्णय अनुसार अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व को तो स्व के रूप में निर्णय किया तथा अपनी ही उत्पाद-व्यय करने वाली पर्यायों सहित समस्त लोकालोक को पर के रूप में निश्चित किया। उक्त निर्णय होते ही श्रद्धा ने तो अकेले स्व को (त्रिकाली ध्रुवतत्त्व को) स्व के रूप में स्वीकार कर लिया अर्थात् अपने आप का अस्तित्व ही ध्रुवरूप मान लिया। श्रद्धा के साथ अनन्त गुण भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार श्रद्धा के विषय में आंशिक तन्मय अर्थात् शुद्ध हो गये और यह आत्मा ज्ञानी होकर साधक की श्रेणी में आ गया। लेकिन पर-प्रकाशक ज्ञान के विषय भी परज्ञेय-रूप से ज्ञान में विद्यमान तो रहेंगे ही।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के अनंतगुणों में से स्व एवं पर दोनों को जानने की क्षमता तो एक मात्र ज्ञान में ही है तथा ज्ञान के विषयों में स्व कौन है और पर कौन है, इनके विभागीकरण करके, यह निर्णय भी अकेला ज्ञान ही करता है। लेकिन अपने आप के ध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में स्वीकार करना – श्रद्धान करना, यह कार्य ज्ञान नहीं कर सकता। यह कार्य तो श्रद्धा ही करती है। श्रद्धा जिसप्रकार अपने अस्तित्व की श्रद्धा करती है, उसीप्रकार पर के भी अस्तित्व की श्रद्धा करे यह काम श्रद्धा का नहीं है। वर्गीकरण का कार्य तो ज्ञान का ही है। श्रद्धा तो मात्र स्व को स्व के रूप में वरण कर लेती है, फलस्वरूप बाकी सब तो पर के रूप में ही रह जाते हैं। ऐसा तात्पर्यार्थ तो हम ही

अपने समझने के लिए निकाल लेते हैं। वास्तव में श्रद्धागुण का यह कार्य नहीं है। निष्कर्ष यह है कि श्रद्धा का विषय तो एक मात्र त्रिकालीज्ञायक ध्रुवतत्त्व ही रह जाता है, उसी को उसने स्व के रूप में वरण कर लिया। लेकिन उसी समय स्व के रूप में अकेला स्व ही ज्ञान का विषय एवं अपनी उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्यायों के साथ-साथ समस्त लोकालोक पर के रूप में रहा। श्रद्धा का विषय तो अकेला ध्रुव ही रहता है। लेकिन ज्ञान के विषय ध्रुव के अतिरिक्त अपनी पर्यायों के साथ-साथ समस्त लोकालोक भी रहते हैं; ज्ञान में दोनों विषय एक साथ रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि अभेद-अखण्ड पूर्ण सत् को ज्ञान ने तो जाना और जानने में ही उसको स्व एवं पर के वर्गीकरण पूर्वक जाना। ध्रुव को तो स्व के रूप में तथा उत्पाद-व्यय करती हुई पर्याय को पर के रूप में निर्णयपूर्वक जान लिया। अब श्रद्धा का कार्य तो उन दोनों में से मात्र स्व को अर्थात् जिसको ज्ञान ने स्व के रूप में निर्णय किया है, उसमें अपनेपन की श्रद्धा करना है। फलतः श्रद्धा का विषय तो अकेला ध्रुव ही रह गया,लेकिन ज्ञान के विषय स्व के अतिरिक्त पर भी रहे। साधक जीव को ध्रुव की श्रद्धा के साथ ही पर्याय का ज्ञान एक साथ नहीं रहे तो साधना ही नहीं बनेगी, निश्चयाभास हो जावेगा। दोनों में से स्व उपादेय एवं पर हेय है। ऐसे परिज्ञान के बिना स्व के प्रति आकर्षण एवं रुचि कैसे उत्पन्न होगी ? इसके बिना चारित्र अर्थात् स्व में स्थिरता का पुरुषार्थ कैसे हो सकेगा ? इसलिए यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है, सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों का एक साथ ही जन्म होता है। इसलिए यही समीचीन मार्ग है कि ज्ञान के विषय स्व एवं पर दोनों रहते हुए भी श्रद्धा का विषय तो एक मात्र अपना त्रिकालीभाव ऐसा ध्रुवतत्त्व ही रहता है।

सत् अभेद ही है तो ज्ञान भेद कैसे करेगा ?

ज्ञान वस्तु के भेद नहीं कर देता, लेकिन अभेदवस्तु को समझने के लिए अपने ज्ञान में ही भेद करके समझ लेता है। इस पद्धति को इसी कारण जिनवाणी में व्यवहार कहा जाता है। इसके द्वारा भी अभेद वस्तु को ही समझा जाता है। जैसे छोटे बालक को 'अ' अक्षर लिखने की विधि का ज्ञान कराने के लिए मात्र लकीरों का ज्ञान कराकर, उनको सबको यथास्थान मिलाना सिखाया जाता है पश्चात् उन सबको मिलाकर पूरा 'अ' अक्षर बन जाता है। इस विधि से वह बालक 'अ' अक्षर लिखना सीख लेता है। उसीप्रकार अभेद वस्तु को पहिचानने के लिए अज्ञानी को भेदों द्वारा समझाते हैं, फिर उन सब भेदों का स्वामी ऐसे अभेद आत्मा का ज्ञान कराया जाता है। ज्ञान की इसप्रकार की पद्धति ही समीचीन पद्धति है। जिनवाणी में ज्ञान की इसप्रकार की पद्धति को प्रमाण और नय के रूप में बताया है।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का छठवाँ सूत्र है कि अधिगम अर्थात् ज्ञान करने का उपाय ज्ञान का प्रमाण और नय के रूप में कार्य करना है। यथा:–

"प्रमाणनयैरधिगमः।।६।।

अर्थ :– वस्तु का अधिगम (ज्ञान) प्रमाण और नय के द्वारा होता है।"

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो अभेद ही है। ऐसी अभेदरूप वस्तु का ज्ञान करे अर्थात् ज्ञेय बनाये उस ज्ञान का नाम प्रमाणज्ञान है तथा प्रमाण द्वारा समझी हुई वस्तु तो द्रव्य और पर्याय ऐसे दो भेदों वाली है, उसको भिन्न-भिन्न करके समझने की पद्धति को नय कहा गया है। ऐसी अभेद वस्तु में द्रव्य का स्वरूप नित्य है लेकिन पर्याय का स्वरूप अनित्य होने से दोनों के स्वभाव एक दूसरे के विपरीत हैं। अतः

उनको जानने वाले नय भी विरुद्ध स्वभावी हैं। अभेद द्रव्य के नित्य पक्ष ऐसे ध्रुवतत्त्व का ज्ञान करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय है तथा अनित्य स्वभावी ऐसे पर्यायपक्ष का ज्ञान करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय है। इसप्रकार दोनों पक्षों के परिज्ञान द्वारा सम्पूर्ण अभेद वस्तु को समझ लिया जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण के द्वारा नयज्ञान के विशेष भद-प्रभेदों में उलझाना नहीं है। इस विषय पर आवश्यक चर्चा इसी पुस्तकमाला के पूर्व के भागों में भी करते आये हैं, पाठकों को वहाँ से जान लेना चाहिए। यहाँ तो हमारा विषय है – "आत्मा अभेद होने से ज्ञान उसके भी भेद करके कैसे समझ सकेगा ?" इस सन्दर्भ के लिए हम उक्त विषय को समझेंगे। द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र की गाथा 181 में भी कहा है, उसका अर्थ निम्न है –

"जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तु स्वरूप का सही (यथार्थ) ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को नहीं जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं।"

इसलिये उपर्युक्त विषय का आवश्यक ज्ञान आवश्यक है। अज्ञानी जीव को तो अपना स्वरूप समझने के लिये उपर्युक्त ज्ञान अति आवश्यक है। यथार्थ स्वरूप समझे बिना परिणमन तो हो ही नहीं सकेगा। ऐसा अज्ञानी स्वरूप समझकर जब भी स्व में एकाग्र होगा तो वह आत्मानुभव कर स्वयं ज्ञानी हो सकेगा। ज्ञानी हो जाने पर तो उसका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान हो जावेगा अर्थात् उसके ज्ञान का परिणमन ही सहज रूप से प्रमाण नयात्मक परिणमने लगेगा। वास्तव में प्रमाण नयात्मक ज्ञान का जन्म ही सर्वप्रथम होने वाली निर्विकल्प आत्मानुभूति की दशा में ही होता है। उस दशा में उसने आत्मा के अभेद-एक- नित्य-सामान्य स्वरूप को उपयोगात्मक अनुभव में लिया;

उसी समय उसका ज्ञान सम्यक् हुआ अर्थात् प्रमाण-नयात्मक सम्यक् श्रुतज्ञान का जन्म हुआ। इसी ज्ञान को प्रमाणज्ञान कहा गया है। ऐसा ज्ञानी जब विकल्पात्मक दशा में आता है तब भेदज्ञान नयज्ञान के द्वारा वर्तता रहता है तथा उसको संवर दशा वाला सहज वर्तने वाला भेदज्ञान प्रगट हो जाता है। जिस भेदज्ञान की महिमा समयसार कलश १३९ में आचार्य श्री ने की है। वह कलश निम्न प्रकार है :–

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।

भावार्थः– एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपद रूप भाषित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं – आपत्तिरूप हैं)।

इसप्रकार सम्यग्ज्ञान का विषय होने से 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' कहा गया है तथा 'प्रमाणपूर्वक नय ज्ञान की उत्पत्ति' भी कहा गया है। इस अपेक्षा में प्रमाण का अर्थ यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान से है, यथा सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं, लेकिन ऐसे सम्यग्ज्ञान का विषय जब अभेद वस्तु होती है, उस ज्ञान को भी प्रमाण ज्ञान कहा जाता है; वह अपेक्षा वस्तु का स्वरूप समझने के लिये है।

प्रमाण एवं नय ज्ञान की विस्तारपूर्वक चर्चा डॉ॰ भारिल्ल द्वारा रचित परमभाव प्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ १८६ तथा १८८ पर की गई है। वह निम्न प्रकार है :–

"प्रमाण की विषयभूत प्रत्येक वस्तु सामान्य–विशेषात्मक के समान नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक एवं भेदाभेदात्मक भी हैं। उसमें द्रव्यार्थिक नय का विषय बतानेवाला वस्तु का सामान्यांश नित्य, एक एवं अभेदस्वरूप तथा पर्यायार्थिकनय का विषय बतानेवाला विशेषांश अनित्य, अनेक एवं भेदस्वरूप है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यार्थिकनय का विषय सामान्य, एक, नित्य एवं अभेद स्वरूप वस्त्वंश है तथा पर्यायार्थिकनय का विषय विशेष, अनेक, अनित्य एवं भेदस्वरूप वस्त्वंश है। जिसमें उपर्युक्त सब कुछ समाहित है, वह वस्तु प्रमाण का विषय है अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक, एकानेकात्मक, नित्यानित्यात्मक एवं भेदाभेदात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है।

यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा विचार करें तो प्रमाण की विषयभूत वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य-विशेषात्मक, क्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक एवं भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है।

प्रमाण की विषयभूत उक्त वस्तु के द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश में एवं पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्यायांश में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा विचार करें तो द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश में सामान्यत्व, अभेदत्व, नित्यत्व एवं एकत्व समाहित रहता है तथा पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्यायांश में विशेषत्व, भेदत्व, अनित्यत्व एवं अनेकत्व समाहित रहता है।

इसी विशेषता के कारण द्रव्यार्थिकनय के विषय को द्रव्य, सामान्य, अभेद, नित्य एवं एक तथा पर्यायार्थिकनय के विषय को पर्याय, विशेष, भेद, अनित्य एवं अनेक आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

अतः यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकरण में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय के विषय की 'द्रव्य' एवं पर्यायार्थिकनय के विषय की 'पर्याय' संज्ञा जिनवाणी को अभीष्ट है। यहाँ 'द्रव्य' और 'पर्याय' शब्दों के अर्थ **'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'** और **'तद्भावः परिणामः'** न होकर द्रव्यार्थिकनय का विषय 'द्रव्य' एवं पर्यायार्थिकनय का विषय;

'पर्याय' अपेक्षित हैं। 'द्रव्य' माने द्रव्यार्थिकनय का विषय; वह चाहे सामान्य हो, अभेद हो, नित्य हो, एक हो, कुछ भी हो; वही द्रव्य शब्द से अभिप्रेत है। इसीप्रकार 'पर्याय' माने पर्यायार्थिकनय का विषय; वह चाहे विशेष हो, भेद हो, अनित्य हो, अनेक हो, जो कुछ भी हो; वही 'पर्याय' शब्द से अभिप्रेत है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान रखने की यह भी है कि यद्यपि यहाँ द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश को 'द्रव्य' कहा जा रहा है तथा आगम में भी इस प्रकरण में प्रायः इसी अर्थ में इसका प्रयोग पाया जाता है; तथापि **आगम में कहीं-कहीं सामान्य-विशेषात्मक अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मक प्रमाण** की विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु को 'द्रव्य' कह दिया जाता है।"

उपर्युक्त प्रकार से प्रमाण एवं नयज्ञान की स्पष्ट समझ द्वारा सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु को समझकर, अपने प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अभेद वस्तु में भी नयज्ञान द्वारा भेद करके समझा जा सकेगा एवं अनुभव भी किया जा सकेगा। जिस समय द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत वस्तु को समझना हो या अनुभव करना हो तो पर्यायार्थिक नय के विषय को गौण रखना होता है और द्रव्यार्थिकनय का विषय उसके लिये मुख्य हो जाता है। जब पर्यायार्थिक नय के विषयभूत वस्तु को समझना हो तो, द्रव्यार्थिक नय के विषय को गौण रखना होता है तथा पर्यायार्थिक नय का विषय मुख्य हो जाता है। इसप्रकार की मुख्य गौण व्यवस्था पूर्वक अभेद वस्तु को भी भेद करके समझा जाता है एवं अनुभव भी किया जाता है। इस प्रक्रिया में वस्तु कुछ भेद रूप नहीं हो जाती; वह तो अभेद-अखण्ड ही रहती है। वस्तु में कुछ भी छेड़छाड़ करे बिना आत्मार्थी अपने ज्ञान में उपर्युक्त व्यवस्था के द्वारा भेद करके समझ लेता है एवं अनुभव कर, अपना प्रयोजन सिद्ध कर

लेता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी होने के पूर्व भी आत्मार्थी अभेद आत्मा में भी भेद करके अपने ध्रुवतत्त्व को पर्याय से भिन्न अपने रूप (स्व के रूप) में द्रव्यार्थिक नय द्वारा जान सकता है, पहिचान सकता है, समझ सकता है, निर्णय कर सकता है।

मिथ्याज्ञान के नयों के निर्णय की यथार्थता कैसे मानी जावे ?

यह बात तो सत्य है कि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व का ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं कहा जा सकेगा तथा यह भी सत्य है कि सम्यक्नयों का जन्म सम्यग्ज्ञान में ही होता है। लेकिन मिथ्यात्वी जीवों में भी ग्रहीत मिथ्यात्व वाले अज्ञानी के ज्ञान में तथा सम्यक्त्व के सन्मुख अज्ञानी के ज्ञान में, पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर वर्तता है। सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि को ही सम्यक्त्व होने के पहले पाँच लब्धियां होती हैं। ऐसा जीव जब प्रारंभिक दशा में क्षयोपशम एवं विशुद्धि लब्धियों को पार कर देशना लब्धि में पदार्पण करता है, उसके पूर्व मिथ्यात्व दशा में रहते हुए भी, उसके मिथ्यात्व में क्रमशः क्षीणता होती रहती है। ऐसा अज्ञानी ज्यों-ज्यों अपने आत्मा के स्वरूप को समझता जाता है, त्यों त्यों उसकी रुचि भी आत्मा को प्राप्त करने की ओर बढती जाती है। तदनुसार ही मिथ्यात्व के निषेक भी क्रमशः घटते जाते हैं अर्थात् मिथ्यात्व में भी क्षीणता होती जाती है। फलतः ज्ञान में भी उतनी उतनी ही विपरीतता घटती जाती है अर्थात् निर्मलता, स्पष्टता आती जाती है, ऐसा अज्ञानी अपने स्वरूप को समझने के लिए नयज्ञान का प्रयोग करता है। रुचि की उग्रता के साथ-साथ इसप्रकार के प्रयोग द्वारा ही विकल्पात्मक दशा द्वारा स्व पर का भेद करता है। इसप्रकार के प्रयोग करने में जैसे-जैसे स्व के स्वरूप समझने में स्पष्टता

होती जाती है, फलस्वरूप उतनी-उतनी ही रुचि में भी उग्रता बढती जाती है, तद्नुसार ही मिथ्यात्व की क्षीणता और ज्ञान की निर्मलता भी बढती जाती है। ऐसा जीव बढते-बढते क्रमशः प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश कर लेता है। ऐसे जीव की तो रुचि की उग्रता और भी तीव्रता को प्राप्त हो जाती है। फलतः मिथ्यात्व की क्षीणता भी मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो जाती है। वह क्षीणता ही बढते-बढते करण-लब्धि पार कर नाश को (क्षय को) प्राप्त हो जाती है। रुचि ही अपने स्वरूप को आत्मसात् करने के लिए चरम सीमा पर पहुंच जाती है, उस समय का ज्ञान भी कहलावेगा तो मिथ्यात्व सहित का ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान, लेकिन मरणासन्न अवस्था प्राप्त मिथ्यात्व के और उदय काल के सूर्य के समान बढते हुए मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व के तो पूर्व पश्चिम दिशा के अन्तर के समान महान् अन्तर रहता है। इस दशा के साथ वर्तनेवाला ज्ञान, मिथ्या कहा जाने पर भी सम्यक्त्व के सन्मुख होने के कारण नयपक्षातीत करके सम्यक्ता प्राप्त करने की क्षमता को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञान को 'सम्यक् विकल्पात्मक श्रुतज्ञान-नयज्ञान जिनवाणी में कहा गया है।' आचार्य देवसेन ने श्रुत भवनदीपकनयचक्र के पृष्ठ 29 पर कहा है, उसका अर्थ इसप्रकार है:–

"यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नय पक्षातीत होने में समर्थ नहीं है, अर्थात् विकल्पात्मक नय ज्ञान के बिना निर्विकल्प (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है; क्योंकि अनादिकालीन कर्मवश से यह असत् कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः सत् कल्पनारूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।"

(परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ 19–20 से उद्धृत)

उपरोक्त आगम वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानी

को ज्ञानी बनने के लिये भी नयों का यथार्थ ज्ञान उपयोगी ही नहीं महान् उपयोगी है। लेकिन श्रद्धा-ज्ञान में यह स्पष्ट रहना चाहिये कि अज्ञानदशा का नयज्ञान समझने मात्र के लिये उपयोगी है, आत्मा की उपलब्धि तो नयपक्षातीत होने पर ही होगी। नयपक्षातीत तो रुचि की अत्यन्त उग्रता होने पर, मिथ्यात्व के निषेक मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर ही कार्यकारी हो सकेंगे। रुचि रहित अज्ञानी जीव के नयों संबंधी विकल्प किंचित मात्र भी कार्यकारी नहीं हो सकते; लेकिन सम्यक्त्व सन्मुख जीव भी नयज्ञान के सम्यक् प्रयोग के बिना आत्मोपलब्धि से वंचित रह जावेगा। इसलिए ऐसे जीव के ही नयज्ञान को आचार्य ने 'सम्यक्विकल्पात्मक नयज्ञान' कहा है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय से निश्चय-व्यवहार नय का सामंजस्य

सामान्यतया द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को आगम के नय एवं निश्चय व्यवहारनय को अध्यात्म के नय कहा जाता है। इसकी विस्तार से चर्चा इसी पुस्तकमाला के पूर्व भागों में की जा चुकी है; लेकिन इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दोनों युगल परस्पर विरोधी हैं, वरन् दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। आगम का मुख्य उद्देश्य, छहों द्रव्यों की अर्थात् विश्व की व्यवस्था एवं वस्तु स्वरूप को समझाने का होता है और अध्यात्म में जीव को पूर्ण निराकुल सुखी होने के लिये अर्थात् सिद्ध बनने के लिये पर्याय में पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के उपायों की मुख्यता होती है। आगम द्वारा बताई गई विश्व व्यवस्था एवं वस्तु स्वरूप को समझकर, आत्मा को सुखी बनाने के प्रयोजन के लिये अपनी मान्यता-श्रद्धा में उसका किसप्रकार उपयोग करना, उस पद्धति को समझाने की अध्यात्मनयों में मुख्यता होती है अर्थात् हेय-उपादेय एवं मुख्य-गौण करके प्रयोजन सिद्ध करने के लिये

समझाने का उद्देश्य होता है। इसप्रकार आगम के बिना अध्यात्म की सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम के विशेषज्ञ होने पर भी अध्यात्म पद्धति को अपनाये बिना, अपने प्रयोजन अर्थात् सुख प्राप्ति (सिद्ध दशा की प्राप्ति) नहीं हो सकती। इसप्रकार से दानों नय एक दूसरे के पूरक ही नहीं अनिवार्य भी हैं। इसी आशय को सिद्ध करने वाली द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र में गाथा 182 व आलाप पद्धति में गाथा–3 मिलती है, जिसका अर्थ दोनों ग्रंथों में क्रमशः निम्नप्रकार है:–

णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जयदव्वत्थियं मुणह।।

"सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार – ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक – ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।"

उक्त छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है :–

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है – ऐसा समझना चाहिए।"

– परमभावप्रकाशक नयचक्र पृष्ठ सं 34

उपरोक्त आगम प्रमाण से यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकार के नयों का पूर्ण सामंजस्य ही नहीं बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं।

उपरोक्त सामंजस्य से लाभ किस प्रकार ?

द्रव्यार्थिकनय का विषय वस्तुओं का ध्रुवांश होता है और निश्चयनय का विषय भी आत्मद्रव्य का ध्रुवांश ही होता है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय का विषय वस्तुओं का पर्यायांश होता है तथा व्यवहारनय का विषय भी पर्यायांश तो होता ही है लेकिन ध्रुवांश में भी भेद किये जांए तो वह भी सब व्यवहारनय के विषय होते हैं।

इसप्रकार दोनों प्रकार के नयों के विषयों में सामञ्जस्य है। इस निष्कर्ष की पुष्टि भी उपरोक्त आलाप पद्धति एवं द्रव्य भाव प्रकाशक नयचक्र की गाथा से होती है।

उपरोक्त प्रकार से सामञ्जस्य होते हुए भी दोनों के उद्देश्यों में अन्तर है। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय का उद्देश्य तो विश्व की व्यवस्था को अर्थात् छहों द्रव्यों को एवं उनके प्रत्येक पर्याय के स्वतंत्र परिणमन को समझाना है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य का कार्यक्षेत्र मात्र अपनी पर्यायों तक ही सीमित है। साथ ही रहे हुए अन्य सजातीय अथवा विजातीय द्रव्य में इसकी नास्ति है। जब एक दूसरे का दूसरे में अस्तित्व ही नहीं होगा तो वह दूसरे द्रव्य में हस्तक्षेप कर भी कैसे सकेगा ? अतः विश्व का कोई भी द्रव्य, किसी भी दूसरे द्रव्य के कार्य में न तो सहायक हो सकता है, न बाधक ही हो सकता है और न रोक ही सकता है, न कुछ कर ही सकता है। इसप्रकार के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा होने से पर में कर्त्तृत्वबुद्धि की मान्यता का विसर्जन होता है; सबसे उपेक्षित होकर परिणति में आंशिक वीतरागता प्रगट कराकर, अपने आत्मा को सिद्ध दशा प्राप्त कराने के उपायों में लगाने के लिये अग्रसर करता है।

उपरोक्त श्रद्धावान् आत्मार्थी उपरोक्त प्रकार से विश्व की स्वतंत्र व्यवस्था को समझकर, समस्त विश्व से उपेक्षित होकर, अपने आत्मद्रव्य में ही सीमित हो जाता है। उसको अपने आत्मा के द्रव्य तथा पर्याय ही सर्वस्व लगने लगते हैं। आत्मा में बसे हुए अनन्त गुणों को द्रव्य में ही अभेद करके, एक ओर तो अकेला ध्रुवपक्ष रह जाता है और दूसरी ओर पर्यायपक्ष रह जाता है। दोनों पक्षों के स्वभाव एक दूसरे के विरुद्ध अर्थात् ध्रुवपक्ष तो नित्यस्वभावी और पर्यायपक्ष अनित्यस्वभावी है। ऐसा होते हुए भी दोनों एक साथ ही आत्मा में

विद्यमान हैं और ज्ञान भी दोनों को एक साथ जानने के स्वभाव वाला है।

लेकिन छद्मस्थ आत्मार्थी का ज्ञान क्षायोपशमिक होने से दोनों को एक साथ नहीं जान सकता, क्रमशः ही जान पाता है। ऐसी दशावाले छद्मस्थ का ज्ञान जब ध्रुवपक्ष को जानता है, तब उस ज्ञान पर्याय का नाम द्रव्यार्थिकनय है तथा पर्यायपक्ष को जानने वाले ज्ञान का नाम पर्यायार्थिकनय है। लेकिन उन दोनों में से निश्चयनय मेरे को ध्रुवपक्ष ही आश्रयभूत-उपादेयभूत-शरणभूत तथा स्वभावभूत है ऐसा निर्णय कराता है। यह समझकर अपनेपन की श्रद्धा करने योग्य है, ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराने का कारणभूत होने से भी उसको निश्चयनय कहा है। इस नय को उपादेयभूत एवं पूज्य तक भी जिनवाणी में कहा है। व्यवहारनय, पर्यायाश्रित तथा अनित्य स्वभावी होने से अनेकताओं के कारण, छद्मस्थ को ज्ञेय परिवर्तन का निमित्त होकर रागोत्पादक हो जाता है, आत्मा के प्रयोजन में बाधक होने से, आश्रय नहीं करने योग्य, उपेक्षा एवं गौण करने योग्य होने से हेय कहकर जिनवाणी में उसका आश्रय छुड़ाया है। व्यवहारनय की इसी में सार्थकता है।

इसप्रकार निश्चयनय एवं व्यवहारनय के ज्ञान का उद्देश्य तो आत्मा का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये महान् उपयोगी है।

पंचाध्यायीकार ने अ० १ के श्लोक ५२१के द्वारा उपारोक्त आशय की पुष्टि की है, उसका अर्थ निम्न प्रकार है :–

"पर्यायार्थिकनय कहो या व्यवहारनय–इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है।"

ग्रन्थकार के कहने का अभिप्राय यह है कि व्यवहारनय का

कथन,आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिचायक नहीं होता, अतः वस्तु का स्वरूप उसके कथन के अनुसार मान लेने योग्य नहीं होता, इस अपेक्षा आश्रयभूत नहीं है तथा हेय ही है। इसी आशय का समर्थन समयसार की गाथा ११ तथा २७२ के द्वारा भी होता है। दोनों गाथाओं का अर्थ क्रमशः निम्नप्रकार है :–

"व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है; जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि है।।११।।"

"इसप्रकार (पराश्रित) व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जान; निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।।२७२।।"

इसप्रकार उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि आगम परक, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों की यथार्थ समझ के बिना विश्व व्यवस्था नहीं समझी जा सकती तथा प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की स्वतंत्रता समझ में नहीं आ सकती, उसके बिना परद्रव्यों के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती तथा पर के प्रति कर्तृत्व बुद्धि नहीं छूट सकती। उपरोक्त स्थिति समझने वाला आत्मार्थी ही अध्यात्म परक, निश्चयनय और व्यवहारनय के यथार्थ प्रयोग द्वारा अपना कार्यक्षेत्र अपनी आत्मा में सीमित कर लेता है; अपने पुरुषार्थ को समस्त विश्व से समेटकर, पर्याय को शुद्ध करके ध्रुव के समान बनाने की ओर जुट जाता है। इसप्रकार की शुद्धि प्राप्त करने हेतु निश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवतत्त्व को ही भूतार्थ-सत्यार्थ एवं शरणभूत मानकर, अपने आकर्षण एवं रुचि का केन्द्र बनाकर, श्रद्धा में उपादेय मान लेता है। फलतः पुरुषार्थ उसी ओर केन्द्रित हो जाता है।

अपने ध्रुवभाव के अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञात होनेवाले पर्यायार्थिकनय के विषयभूत ज्ञेय हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय होते

हैं। आत्मार्थी व्यवहारनय के विषयों को अभूतार्थ-असत्यार्थ, एवं उनके प्रति होने वाले प्रेम को आत्मा के लिए घातक मानकर, उनके प्रति आकर्षण एवं रुचि को समेटकर, आत्मलक्ष्यी करने की चेष्टा जागृत करता है। श्रद्धा में उनको हेय मानकर प्रवर्तने से पुरुषार्थ उनकी ओर से सिमटकर त्रिकालीज्ञायक की ओर केन्द्रित हो जाता है तथा ध्रुव के समान बन जाने के लिये तैयार हो जाता है। इसप्रकार अध्यात्मनयों के माध्यम से आत्मार्थी अपने प्रयोजन को साध लेता है।

इसप्रकार दोनों प्रकार के नय एक दूसरे के पूरक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। दोनों का यथास्थान यथार्थ प्रकार से उपयोग करे बिना कभी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा महान् लाभ दोनों प्रकार के नयों के सामञ्जस्य का है।

प्रायोग्य लब्धि के परिणामों का उपसंहार –

रुचि एवं परिणति का अंकुरारोपण तो क्षयोपशमलब्धि में ही हो जाता है। लेकिन जैसे अंकुर को पेड़ के रूप तक पहुंचाने के लिये, उसके रक्षण एवं पोषण की अत्यन्त आवश्यक्ता होती है; उसीप्रकार क्षयोपशमलब्धि में प्रगट हुई रुचि एवं परिणति को अगर रक्षण एवं पोषण मिलता रहे तो वह प्रायोग्यलब्धि में वृक्ष के समान फल देने योग्य अवस्था को प्राप्त हो सकती है। रुचि एवं परिणति का ध्येय तो होता है, **पूर्णता प्राप्त करना अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना।** इसलिए रुचि एवं परिणति का लक्ष्य तो, आत्मा के परिणामों की पूर्ण शुद्धि की ओर ही रहता है, लेकिन एकत्वबुद्धि का अभाव हो जाने पर भी आसक्ति के अनुसार ज्ञान के उपयोग का झुकाव बाहर की ओर रहता है; ऐसी अन्तर्दशा आत्मार्थी की वर्तती रहती है। इसीकारण वर्तमान प्रकरण में अन्तर्लक्ष्यी एवं बहिर्लक्ष्यी परिणाम शब्द का प्रयोग किया है, वह रुचि एवं परिणति के झुकाव की अपेक्षा ही किया है:

उपयोग की अपेक्षा नहीं। क्योंकि उपयोग का अन्तर्लक्ष्यी होना तो निर्विकल्पता होती है और बहिर्लक्ष्यी होना सविकल्पता है, उसमें तारतम्यता नहीं होती। तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक के प्रकरणों में अन्तर्लक्ष्यी एवं बहिर्लक्ष्यी का अभिप्राय रुचि एवं परिणति के झुकाव से समझना।

मोक्षमार्ग में महत्व तो एक मात्र रुचि की उग्रता एवं परिणति की शुद्धता को है, क्योंकि उपयोग को तो रुचि का अनुसरण करना ही पड़ता है, यह अनिवार्य है; अतः मोक्षमार्गी आत्मार्थी को उपयोग के बहिर्लक्ष्यी होकर उछलकूद करने पर भी, वह महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। वह तो अपनी रुचि एवं परिणति को आगे बढ़ाते रहने में ही प्रयत्नशील रहता है और मनगत उपयोग के परिणमन में उत्साह हीन रहते हुए मध्यस्थ बना रहता है। फलतः उनके प्रति अकर्तृत्वभाव वर्तने से आत्मा क्षुभित नहीं होता और रुचि एवं परिणति की वृद्धि के कार्य में बाधा नहीं आने देता।

आगम का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि **'रुचिअनुयायीवीर्य'**, वीर्य का अभिप्राय है आत्मा का पुरुषार्थ। समयसार में 47 शक्तियों के प्रकरण में वीर्यशक्ति (गुण) भी एक आत्मा का स्वभाव कहा है; उसकी व्याख्या निम्नानुसार है :–

" स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति ।। ६।। "

पूज्य श्री कानजी स्वामी ने वीर्य शक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न कहा है :–

" आत्मा का वीर्य तो उसको कहना चाहिये, जो पर्याय में स्वयं के अनंत गुण–स्वभावों के स्वरूप की रचना करे, अनंत गुणों की निर्मल पर्यायों को प्रगट करे, वह आत्मा का वीर्य है। "

" द्रव्य–गुण तो त्रिकाल ध्रुव एक रूप है; वो कुछ भी रचना करे

ऐसा नहीं है, जो कुछ भी रचना होती है, वह तो पर्याय में ही होती है।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रुचि का अनुसरण करके ही आत्मा का वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ कार्य करता है। आत्मार्थी की रुचि पूर्णता प्राप्त करने की होती है। अतः रुचि जिसप्रकार की होगी आत्मा का पुरुषार्थ अर्थात् पर्यायें भी उसकी ही पूर्ति करने वाली होंगी। तात्पर्य यह है कि रुचि के अनुसार सम्पूर्ण आत्मा की अर्थात् अनन्त गुणों की पर्यायें भी उसकी पूर्ति करने के लिये ही वृद्धिंगत होती रहती हैं; उन गुणों में ज्ञान गुण भी सम्मिलित है अतः ज्ञान के उपयोग को भी रुचि के अनुकूल परिणमना ही पड़ेगा। रुचि तो परमात्मा बनने में प्रयासरत है और परमात्मा तो स्व को तन्मयता पूर्वक जानते हैं तथा पर को अतन्मयता पूर्वक जानते हैं, आत्मार्थी की रुचि परमात्मा बनने की है; अतः ज्ञान के उपयोग को भी, क्रमशः वैसा ही परिणमना पडेगा, यह अनिवार्य है; अतः आत्मार्थी का तो उपयोग के प्रति एवं उसके विषयों के प्रति भी अकर्तृत्वभाव पूर्वक मध्यस्थता वर्तती है।

उपरोक्त उपलब्धियाँ प्राप्त करने हेतु, प्रारंभ से ही आत्मार्थी की रुचि एवं परिणति तो आत्मलक्ष्यी हो जाती है; फिर भी उपयोग तो परलक्ष्यी रहकर वर्तता है तो भी वह आत्मार्थी की रुचि एवं परिणति को बाधा नहीं पहुंचा सकता। इस श्रद्धा के बल से, आत्मार्थी अपनी रुचि एवं परिणति का रक्षण-पोषण तो करता ही रहता है, वरन् वृद्धिंगत भी करता रहता है।

उपरोक्त क्षयोपशम एवं विशुद्धि लब्धियों को प्राप्त आत्मार्थी को रुचि के बल से परमात्मा बनने का मार्ग समझने की आवश्यक्ता अनुभव होने लगती है; तब वह देशना प्राप्त करने का प्रयास करता है। देशना द्वारा मार्ग समझने की तीव्र पिपासा जाग्रत होती है। जैसे ग्रीष्म के समय में जिसको तीव्र पिपासा लगी हो, उस व्यक्ति को अगर ठंडा

जल प्राप्त हो जावे तो भरपूर उपयोग करने की उसको सहज ही भावना होती है और प्राप्त हो जाने पर वह उसका उपयोग भी भरपूर करेगा ही। उसीप्रकार आत्मार्थी को भी परमात्मा बनने की रुचि जाग्रत होने से परमात्मा बनने के उपायों को समझने के लिये प्रयत्नशील रहता है, और जल के पिपासु पुरुष के समान देशना का रुचि के साथ भरपूर उपयोग अवश्य करेगा।

इस पुस्तक माला के पूर्व के छह भाग देशनालब्धि के प्रकरण की चर्चा का विस्तार ही है। समस्त देशना अर्थात् द्वादशांग का सार मात्र इतना ही है कि विश्व व्यवस्था एवं वस्तु के परिणमन की स्वतंत्रता को समझकर तथा अपने त्रिकाली-सिद्धस्वभावी-ज्ञायक अकर्ता ध्रुवतत्व में अपनापन स्थापन कर, बाकी समस्त में परपना स्थापन कर, उनके स्वतंत्र परिणमन के आधार से अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को उनकी ओर से समेटकर, अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव के सन्मुख करने का मार्ग बताने का ही समस्त द्वादशांग का उद्देश्य है।

देशना के द्वारा ही हमको प्रायोग्यलब्धि की स्थिति समझनी है अतः महत्त्वपूर्ण यह है कि देशना के द्वारा मोक्ष का मार्ग समझने में ज्ञान तो उपयोगात्मक परलक्ष्यी ही रहता है, अतः आत्मदर्शन के लिये तो वह कार्यकारी नहीं होता; जबतक ज्ञानोपयोग स्वलक्ष्यी नहीं होगा तबतक आत्मदर्शन नहीं हो सकेगा; लेकिन साथ में वर्तने वाली रुचि एवं परिणति का परिणमन, जितने अंश में आत्मलक्ष्यी होकर परिणम रहा है, उतने अंश में परलक्ष्यी उपयोगात्मक ज्ञान भी उत्साहहीन हो जाता है, रुचि को बाधा नहीं पहुँचाता अर्थात् पर के साथ उतने अंश में एकत्व नहीं करता– ढीला हो जाता है। फलतः मार्ग समझने के काल में भी आत्मार्थी परमात्मा बनने के उपायों को तो तीव्र रुचि के साथ ग्रहण करके अपने निर्णय को पुष्ट करता जाता है। अपने उद्देश्य की

पूर्ति करनेयोग्य कथनों को ग्रहण करता हुआ व अन्य कथनों को गौण करता हुआ अपना प्रयोजन सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहता है उसका फल सहजरूप से होता है कि उपयोगात्मक परलक्ष्यी ज्ञान भी संसार-वर्धक विषयों में नहीं उलझता; उस ओर की रुचि ढीली पड़ जाती है।

तात्पर्य यह है कि वास्तविक मोक्षमार्ग में प्रयत्नशील आत्मार्थी को, देशनालब्धि के परिणमन के काल में ही रुचि एवं परिणति तो स्वलक्ष्यी होकर परिणमने लग जाती है तथा तारतम्यता पूर्वक उसमें उग्रता एवं शुद्धता भी आई है, लेकिन वह इतनी बलिष्टता को प्राप्त नहीं हुई है कि उपयोगात्मक ज्ञान को भी अपने अनुसार परिणमा सके। आत्मार्थी यह भी समझता है कि मार्ग स्पष्ट समझे बिना उपयोगात्मक ज्ञान भी स्वलक्ष्यी नहीं हो सकेगा। अतः आत्मार्थी तीव्ररुचि के साथ आत्मदर्शन प्राप्त करने के लिये मार्ग समझने की चेष्टा करता है। इसप्रकार जबतक उपरोक्त प्रकार से समझने में संलग्न है, तबतक देशनालब्धि का पुरुषार्थ वर्तता है; इसमें परलक्ष्यी उपयोगात्मक ज्ञान की अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान की मुख्यता रहती है। लेकिन साथ में वर्तनेवाली रुचि एवं परिणति तो मार्ग समझने के काल में भी बलिष्ट होती ही रहती है।

सारांश यह है कि प्रायोग्यलब्धि के परिणामों में आत्मा के श्रद्धागुण अर्थात् रुचि ने तो अपने त्रिकाली ध्रुवतत्त्व को स्व के रूप में स्वीकार कर लिया, अतः वह तो आत्मलक्ष्यी होकर परिणमने लगी तथा चारित्रगुण में भी आंशिक निर्मलता होकर अनन्तानुबन्धी में क्षीणता आने से पर ज्ञेयों का आकर्षण ढीला पड जाने से, परिणति भी परज्ञेयों की ओर से सिमटकर आत्मलक्ष्यी हो गई। लेकिन ज्ञान तो स्वपरप्रकाशक होने से उसका उपयोगात्मक ज्ञान परलक्ष्यी भी प्रवर्तता है; उस ज्ञान में पूर्णतः स्वलक्ष्यी करने योग्य बलिष्टता उत्पन्न

नहीं होने से वह ज्ञान पूर्णतः स्वलक्ष्यी नहीं हो पाता; लेकिन आत्मार्थी की वृद्धिंगत होती हुई रुचि एवं परिणति की स्वलक्ष्यता, ज्ञान के परलक्ष्यी उपयोगात्मक ज्ञान में भी निश्चितरूप से ढीलापन उत्पन्न कर देती है। तात्पर्य यह है कि रुचि एवं परिणति की वृद्धि को क्रमशः स्वलक्ष्यता प्राप्त होती हुई, जितनी-जितनी बढती जावेगी अर्थात् बलिष्ट होती जावेगी; उतने-उतने अंश में उपयोगात्मक परलक्ष्यी ज्ञान को भी स्वलक्ष्यी निश्चितरूप से होना ही पड़ेगा; क्योंकि स्वलक्ष्यी रुचि एवं पर की ओर से सिमटती हुई परिणति, पर के प्रति आकर्षण समाप्त कर, एक मात्र स्वज्ञेय को आकर्षण का विषय बना देगी। तब आत्मा के समस्त गुण भी रुचि का अनुसरण कर स्वलक्ष्यी हो जावेंगे, फल स्वरूप ज्ञान को भी स्वलक्ष्यी होना ही पड़ेगा। चारित्रगुण भी स्वलक्ष्यी होने से स्वलक्ष्यी ज्ञान होते ही सब गुणों की स्व में तन्मयता होकर आत्मदर्शन प्राप्त हो जावेगा। ज्ञान के उपयोग में परज्ञेय ज्ञात भी होंगे तो उनमें अपनापन एवं आकर्षण के अभाव के कारण, अपनापन नहीं रहने से परज्ञेयों का ज्ञान भी आत्मा को किंचित् मात्र भी विचलित करने में समर्थ नहीं होता।

आत्मा की उपरोक्त प्रकार की अन्तर्दशा प्रायोग्यलब्धि में वर्तती है अर्थात् उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मा ही प्रायोग्यलब्धि प्राप्त आत्मार्थी है। ऐसे आत्मार्थी को प्रायोग्यलब्धि तक पहुंचकर भी अगर रुचि में ढीलापन आ गया अर्थात् रुचि स्वलक्ष्यी रहने के बजाय परलक्ष्यी हो गई तो परिणति भी साथ छोड़ देगी और आत्मा, आत्मदर्शन प्राप्त करने के मार्ग से भ्रष्ट होकर, पर के साथ एकत्व करके संसार में ही भटकता रहेगा। अतः आत्मार्थी को इस महान खतरे से निरन्तर सावधान रहना चाहिये, अन्यथा ऐसा महान् दुर्लभातिदुर्लभ अवसर भी निष्फल चला जावेगा।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २६१ पर भी कहा है :–

"सो ये चारों लब्धियाँ भव्य या अभव्य के होती हैं। ये चार लब्धियां होने के बाद सम्यक्त्व हो तो हो, न हो तो नहीं भी हो – ऐसा लब्धि सार में कहा है। इसलिये उस तत्त्व विचार वाले को सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है।"

इसप्रकार प्रायोग्यलब्धि में तो रुचि एवं परिणति की ही मुख्यता अर्थात् ऊर्ध्वता रहती है; उपयोग स्वलक्ष्यी होने की गौणता रहती है। लेकिन उपयोग के परलक्ष्य में ढीलापन अवश्य आ जाता है। प्रायोग्यलब्धि तो अन्तराल की स्थिति है। इस लब्धि में उपयोग परलक्ष्यी रहने से विकल्पात्मक तो रहता है लेकिन रुचि एवं परिणति को स्व के प्रति प्रेम अर्थात् अपनापन-आकर्षण होने से, उपयोग भी पर लक्ष्य छोड़कर, स्वलक्ष्यी होने को उत्सुक रहता है। जैसे-जैसे व जितनी-जितनी रुचि की उग्रता बढती जाती है तथा परिणति पर की ओर से सिमटकर आत्मा की ओर बढती जाती है, उतने-उतने ही अंश में उपयोग भी पर का आकर्षण छोड़कर, स्व में आकर्षण बढाता जाता है। अंत में ऐसी स्थिति आ जाती है कि जहां पहुंचकर रुचि एवं परिणति भी इस स्थिति पर पहुंच जाती है कि निश्चितरूप से आत्मदर्शन करेगी ही और उपयोगात्मक ज्ञान भी उस स्थिति पर पहुंच जाता है कि वो भी निश्चित रूप से परलक्ष्य छोड़कर अकेले स्वज्ञेय को उपयोग का विषय बनावेगा ही; इस स्थिति में रुचि एवं परिणति का विषय और उपयोग का विषय एक ही हो जाता है। उसस्थिति का नाम ही करणलब्धि है। करणलब्धि के अंत में आत्मार्थी का उपयोग निर्विकल्प होकर आत्मदर्शन द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा मिथ्यात्व कर्म का भी उपशम, क्षयोपशम हो जावेगा।

इस पुस्तक माला के सभी भागों में कर्म प्रकृतियों की मुख्यता

से आत्मा की अशुद्धता बताने की शैली की मुख्यता नहीं रही है; क्योंकि कर्म प्रकृतियों का तो आत्मा के भावों के अनुकूल परिणमन होगा ही; उनका तो आत्मा के भावों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध निश्चित रूप से होता ही है और उसका विस्तार से वर्णन करणानुयोग के ग्रन्थों में है। कर्मों का तो आत्मपरिणामों में अत्यन्ताभाव ही वर्तता रहता है।

समापन

प्रायोग्यलब्धि के परिणामों एवं करणलब्धि के परिणामों का शब्दों द्वारा वर्गीकरण करना तो शक्य ही नहीं है, क्योंकि सविकल्प उपयोग एवं निर्विकल्प उपयोग के बीच में वर्गीकरण करने योग्य परिणाम तो होते ही नहीं हैं और जहां वर्गीकरण किया जा सके, ऐसे परिणाम छद्मस्थ को गम्य भी नहीं हो सकते, वे मात्र केवलज्ञान गम्य ही हैं। संक्षेप से कहा जाय तो प्रायोग्यलब्धि में रुचि एवं परिणति की उग्रता के बल से सविकल्प उपयोग को निर्विकल्प होने की तारतम्यता की चरम सीमा ही करणलब्धि है।

मेरा संकल्प था कि करणलब्धि के परिणाम होने की योग्यता एवं पात्रता का विवेचन भी इसी भाग में समायोजित हो जाता; किन्तु उसका समावेश इसमें होना संभव नहीं हो सका और यह भाग-7 ही लगभग 184 पृष्ठ का हो गया इसलिये भाग-7 का यहीं समापन किया जा रहा है। करणलब्धि सम्बन्धी पात्रता का विवरण इस पुस्तकमाला के भाग-8 में आवेगा। उसमें निर्विकल्पदशा क्या, क्यों व कैसे प्राप्त होती है ? वह विषय तो आवेगा ही तथा जिनवाणी के अन्य कथनों की भी चर्चा होगी।

इस भाग-7 के विषय के पूर्ण होने से मुझे बहुत हर्ष है। चर्चित विषय पर आत्मार्थीजन मनोयोग पूर्वक अध्ययन-मनन करके शीघ्रातिशीघ्र आत्मदर्शन कर जीवन सफल करें; इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रम	पृष्ठ	ग्रन्थ का नाम
1.	11	तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र – 1
2.	12	मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ – 258
3.	14	समयसार कलश – 136
4.	22	प्रवचनसार कलश – 6
5.	22	प्रवचनसार गाथा – 93
6.	22	समयसार गाथा – 17 व 18 की टीका
7	23	प्रवचनरत्नाकर भाग – 1, पृष्ठ – 301–302
8.	29	परमात्मप्रकाश गाथा – 8 व 9 की टीका
9.	36	मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ – 312
10.	37	नियमसार शुद्धोपयोग अधिकार श्लोक – 286
11.	41	प्रवचनसार गाथा –102 टीका
12	46	समयसार परिशिष्ट पृष्ठ – 668
13.	46	प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग – 11, पृष्ठ – 7
14.	48	पंचास्तिकाय संग्रह गाथा – 40 की टीका
15.	49	प्रवचनसार गाथा – 9 की टीका
16.	50	प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग – 11, पृष्ठ – 132
17.	53	चिद्विलास पृष्ठ – 101
18.	62	समयसार गाथा – 143 की टीका
19.	63	प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग – 5, पृष्ठ – 331
20.	69	नाटक समयसार (एक देखिये जानिये.....)
21.	70	परमात्मप्रकाश गाथा – 52 की टीका
22.	76	प्रवचनरत्नाकर (गुजराती) भाग – 5, पृष्ठ – 194
23.	79	समयसार गाथा – 344 की टीका
24.	79	समयसार कलश – 164 का अर्थ
25.	80	समयसार गाथा – 366 की टीका
26.	86	समयसार कलश – 130 – 131
27.	90	समयसार कलश – 200
28.	96	आलापपद्धति पृष्ठ – 224

29.	107	प्रवचनसार गाथा – 36 की टीका
30.	107	प्रवचनसार गाथा – 29 व 49 की टीका
31.	108	समयसार परिशिष्ट पृष्ठ – 669
32.	109	समयसार कलश – 264 का भावार्थ
33.	109	प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – 6, पृष्ठ – 229
34.	116	परमात्मप्रकाश गाथा – 5 की टीका
35.	119	प्रवचनसार गाथा – 33 की टीका एवं भावार्थ
36.	119	समयसार गाथा – 143 की टीका
37.	120	प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – 6, पृष्ठ – 224
38.	131	अलिंगग्रहण प्रवचन (गुजराती) पृष्ठ – 90
39.	131	प्रवचनसार गाथा – 172, बोल – 20 का अर्थ
40.	134	समयसार कलश – 271 का श्लोकार्थ
41.	135	समयसार कलश टीका-271 का भावार्थ (पं॰राजमलजी)
42.	135	समयसार परिशिष्ट, उपाय–उपेय भाव का प्रकरण
43.	136	नाटक समयसार (एक देखिये जानिये.....)
44.	138	समयसार परिशिष्ट – 'सुख शक्ति'
45.	138	नाटक समयसार उत्थानिका, पद्य – 26
46.	138	समयसार परिशिष्ट – 'प्रकाश शक्ति'
47.	144	रहस्यपूर्णचिट्ठी (मोक्षमार्गप्रकाशक में पृष्ठ – 342)
48.	144	अध्यात्मसंदेश (रहस्यपूर्णचिट्ठी पर प्रवचन) पृष्ठ – 52
49.	152	समयसार परिशिष्ट – 'वीर्य गुण'
50.	160	आलापपद्धति
51.	163	तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय – 1, सूत्र – 6
52.	164	द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र गाथा – 181
53.	165	समयसार कलश – 139
54.	165	परमभावप्रकाशकनयचक्र पृष्ठ – 186 से 188
55.	169	श्रुतभवनदीपकनयचक्र पृष्ठ – 29
56.	171	द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र गाथा – 182, आलापपद्धति गाथा – 3
57.	173	पंचाध्यायी अध्याय – 1, श्लोक – 521
58.	174	समयसार गाथा – 272 का अर्थ
59.	178	पू॰ कानजीस्वामी के वीर्य शक्ति पर प्रवचन में से
60.	181	मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ – 261